ओ३म्

शास्त्रार्थ—

—:*::*::*:—

(स्थान में जीव विषयक विचार)

जो

स्वामी पं० गणपति शर्मा का श्री स्वामी
दर्शनानन्द सरस्वती के साथ
महाविद्यालय ज्वालापुर में
८ एप्रिल सन् १२
को हुआ।

—::*::*::*::—

प्रकाशक—
पद्मसिंह शर्मा
(भारतोदय-सम्पादक)

पं० शङ्करदत्त शर्मा ने "शर्माब्रदर्स प्रिन्टिंगप्रेस"
मुरादाबाद में छापा।
फाल्गुन, संवत् १९ ६९ वि०
प्रथम बार ५०० मूल्य ।)

ओ३म्
गुरु विरजानन्द दण्डी
संदर्भ पुस्तकालय
दयानंद महिला महाविद्यालय
कुरुक्षेत्र
वर्गीकरण नम्बर .....
पु. परिग्रहण क्रमांक .....

सूचना—

प्रूफ पढ़ने का सुप्रबन्ध न होने से शास्त्रार्थ कहीं कहीं अशुद्ध छप गया है, मोटी मोटी अशुद्धियां "शुद्धिपत्र" में ठीक कर दीगई हैं। पृ० ४८से आगे हेडिंग और पेज नम्बर अशुद्ध छप गये हैं अर्थात् पेज न०४९ से ५६ तक के स्थान में ५१ से ५८ तक छप गये हैं; लेखक्रम ठीक है केवल पृष्ठसंख्या ही गलत छपी है, इसी प्रकार इन्हीं पेजों में "शास्त्रार्थ" के स्थानमें "भारतोदय" हेडिंग छप गया है, पाठक महोदय ठीक करके पढ़ें और क्षमा करें।

प्रकाशक.

ओ३म्

धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोज्ज्वलानि।
वाग्वीरुधः स्वयदनोपवनोद्गतानि॥
उच्चित्य मूर्तिकुसुमानि सतां विचित्रं
वर्णानि कर्णपुटिनेष्यते सेयान्ति॥

(काश्मीरक श्रीजगद्धर भट्ट

वेदमन्त्रार्थः ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अर्थ—

'इन्द्रम्'—ऐश्वर्यविशिष्टम्, 'मित्रम्'—मरणात्त्रातारम्, 'वरुणम्'—पापस्य पापाद्वा निवारकम्, 'अग्निम्'—महान्तमात्मानम्, अयं मन्त्रभाऽग्निशब्द उद्देश्यः, एनं हृदिश्येन्द्राद्यात्मत्वकथनम् । 'अथो'—अविचार्यमेव 'दिव्यः'—प्रकाशस्वरूपः, 'सुपर्णः'—सुपतनः, (पतनं नियमनम्) चराचरस्य लोकस्य सम्यङ्नियन्ता-इतियावत् । 'गरुत्मान्'— गुर्वात्मा

महात्मेति वा, गरणवान् वा, निगरतीव ह्यं समग्रञ्जगत्प्रलयकाले, स्वस्वोपादाने प्रविलापकत्वात् । कथमेकस्यानेकात्मकत्वम् ? उच्यते, अमुमेव अग्निनामानमात्मानमेकमेव वस्तुतः सन्तं 'विप्राः'—मेधाविनो देवतातत्व-विदो निविदाख्यप्रकरणरहस्यज्ञा इतिभावः, 'बहुधा'—अनेकधा तत्तत्कार्य्य-कारणेनेन्द्राद्यात्मानं वदन्ति । किञ्च, तमेव वृष्ट्यादिकारणं वैद्युताग्निं (ईश्वर एव स्वापारकृपया वर्षणादिकं करोति वैद्युताग्निरिव, अतस्तस्मिन्नौप-चारिकोऽयमग्निशब्दः 'स नो बन्धुः' इत्यादिमन्त्रान्तर्गतबन्धुशब्दवत्),'यमम्' नियन्तारं कर्मानुरूपं तत्तद्योन्यां प्रापयितारम् । 'मातरिश्वानम्'—अन्तरिक्षे श्वसन्तं गमनशीलं वा वायुमिव विद्यमानं, निखिलप्राणिनामुज्जीवकमित्यर्थः, आहुरिति सर्वत्र यथायथं योजनीयम् ।

इस मन्त्र में इस बात का निरूपण किया गया है कि हर प्रकार के संसार चक्र की कर्त्री एक ऐसी शक्ति है जो कि अनन्त ऐश्वर्य्यसे युक्त, मरण जरा रोग आदि के दुःखों से रक्षा करने वाली पापों से बचाने वाली, प्रकाशमयी, जड तथा चेतन जगत् को नियमपूर्वक अपने वश में रखने वाली, प्राणियों को उन के कर्म्मों के अनुसार सुख दुःख के देने वाली, तथा वृष्टि-करी, प्राणोप्पायक शुभ पवन को चलाने वाली, चेतन और सर्वव्यापिनी है। उसी को विद्वान् लोग, इन्द्र अग्नि मित्र वरुण सुपर्ण गरुत्मान् यम और मातरिश्वा कहते हैं। जो अतुलबल तथा अपरिमेयज्ञान से युक्त महान् आ-त्मा, इस प्रकाण्डब्रह्माण्ड का कर्त्ता हर्ता धर्ता तथा नियन्ता है, जिसकी रचना को देख कर मनुष्य आश्चर्य चकित रह जाता है। जिसकी अपार-महिमा का पता पत्ता २ बता रहा है उस अगाध-ज्ञानके निधान भगवान् की सृष्टि में, हम को आस्तिकभाव से, नम्रता से तथा भयभीत और निर्भय रहकर, आयु को शुभकर्मों तथा उसकी याद में बिताना चाहिये।

यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः
परिजिहीर्षसि यद्यबन्धनम् ।
यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं
श्रय भयस्करमीश्वरसेवनम् ॥

ओ३म्

स्थावर में जीवविषयक-विचार ।

—:☆:❀:☆:—

(अथामुखम्)

श्री पं० गणपतिशर्मा जी का यह अन्तिम और अपूर्व-शास्त्रार्थ, जिन महाशयों ने स्वयं सुनाथा वे तो अब तक उस समय को याद करके सिर धुन रहे हैं, और यह सोच कर कि अब ऐसा अवसर फिर इस जन्म में नहीं मिलेगा, अपने को धन्य समझ रहे हैं कि सौभाग्य से ही यह सुयोग हमें प्राप्त होगया, आर्यसमाज के दो अप्रतिम-तार्किक, निरुपम-वक्ता, अद्वितीय-शास्त्रार्थकर्ता, अलौकिक-प्रतिभाशाली और अपने विषय के अपूर्व-विद्वान् तथा प्रतिवादिभयङ्कर वाग्भट उपदेशकप्रवरों के संवादसंगर देखने और श्रवणसुधावर्षी वाग्विलास सुनने का अलभ्यलाभ मिलगया !

आहा ! सचमुच ही वह कैसा विचित्र समय और पवित्र अवसर था, महाविद्यालय की सुरम्य भूमि के समीप विशाल बाग़ में कुदरती सामियाने के नीचे हज़ारों मनुष्यों का समाज जुटाहै, एक ओर पीतवस्त्रधारी ब्रह्मचारि-समूह, पंक्ति बांधे शान्तभाव से, पर उत्कर्ण हुआ, अपने आसनपर आसीन है, दूसरी ओर गैरिक-रागरञ्जित-वेशविभूषित, पर विरागसम्पन्न अनेक सम्प्रदायों के साधु महात्माजन= जिन जीवन्मुक्तायमानों को विवादसंगर-दिदृक्षा और शास्त्रार्थ-शुश्रूषा खींच लाई है, आसन मारे विराजमान हैं ।

शेष श्रोतृमण्डल फ़र्शपर परा बांधे डटा हुआहै, कोई नोट लेने के लिये चाकू निकाले पेन्सिल घड़ रहा है, कोई काग़ज़ के दस्ते संभाल रहा है, कोई पाकटबुक के पन्ने उलट रहा है, कोई किसी से काग़ज़ पेन्सिल मांग रहा है, कोई बारबार घड़ी निकालकर देख रहा है कोई वक्त पूछ रहा है, शास्त्रार्थ शुरू होने में अभी कुछ देर है, पर श्रोता अभी से उतावले बेसब्रे होरहे हैं, उन्हें एक एक मिनट भारी हो रहा है, बैठे २ गर्दन उठा उठा कर देख रहे हैं कि पाण्डितजी और स्वामी जी आते तो नहीं !

निदान जिस घड़ी का इन्तज़ार था वह आई, और सुनने वालों की दिली कशिश, इन्तज़ार के बढ़े हुए तारमें खींचकर वाग्भट वीरों की युगल जोड़ी को सभामण्डप में ले आई।

ठीक निर्दिष्ट समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, और जिस प्रकार हुआ, वह आगे देखिये। परन्तु प्रियपाठक! इन शब्दों में वह अलौकिक-आनन्द कहां है? जो उस समय वक्ताओं के धाराप्रवाह मधुरभाषणों से टपक रहाथा, यह समझिये कि सुधारस-निष्यन्दी, भाषणनद, बड़े प्रबल वेग से बह रहाथा, जिस में गोते खाते हुए, श्रोतृजन भी साथ साथ बहे जारहे थे, कई महाशय जो उस समृद्धवेग नद को काग़ज़ पेन्सल के छोटे छोटे पात्रों में भरना चाहते थे, देखते रहगये। क्योंकि दरया को कूज़े में बन्द करना, हरएक का काम नहीं है।

हमारे मित्र पं० रक्षाराम जी की लेखनपटुता और आशुग्राहिता प्रशंसनीय है कि उन्होंने उस प्रबल प्रवाह में से इन रलेहुए मोतियों को रोल कर इकट्ठा कर लिया, और उनसे यह सुन्दरकण्ठा बना कर प्रस्तुत करादिया, जो प्रियपाठकों के कमनीयकण्ठ में समर्पित है,

इस शास्त्रार्थ-मौक्तिकमाला-निर्माण का सारा श्रेय, पण्डित रक्षाराम जी को ही है, इस के लिये पाठकों को उनका ही कृतज्ञ होना चाहिये।

"भारतोदय" अपने प्रिय पण्डितजी की इस अन्तिम यादगार को सुरक्षित दशा में सर्वसाधारण के सम्मुख रखकर, बड़ा हर्ष अनुभव कर रहा है।

शास्त्रार्थ की पाण्डुलिपि नोटोंके आधार पर, पण्डितजी के सामने ही प्रस्तुत होचुकी थी। जब अन्तिम बार वह पन्जाब आरहे थे, निवेदन किया कि महाराज! इसे सुनकर तसदीक कर दीजिए, कुछ भाग सुना, और कहा कि अबकी बार आकर सब सुनेंगे, पर अफ़सोस ऐसे गये कि अबतक न लौटे।

विचारया कि वादी प्रतिवादी, दोनों महोदयों को एकबार सुना कर "शास्त्रार्थ" प्रकाशित किया जाय, किन्तु दुःख है कि दुर्दैव ने यह इरादा पूरा न होने दिया, ईश्वर की कृपा है कि 'प्रतिवादी' अभी

मौजूद हैं, पर हाय, 'वादी' को कहां से लायें ? अब तो यह कहने का मौक़ा भी नहीं रहा !

"लोग कुछ पूछने को आये हैं।
अहले-मय्यत जनाज़ा ठहरायें" ॥

ओह ! संसार भी कैसा संसरणशाली और परिवर्तनशील है ! कुछ ठिकाना है, यारो ! कलकी बात है कि हम तुम सब अपूर्व शास्त्रार्थ-नद के प्रवाह में गोते लगा रहे थे, वाद प्रतिवाद की ज़बरदस्त लहरें, कभी इस किनारे और कभी उस किनारे उठा उठा कर फेंक रही थीं, किसी एक तटपर जमकर बैठना थोड़ी देर के लिये भी मुश्किल था, पर जिस ओर जाते, अपूर्व आनन्द पाते थे। और यही चाहते थे कि इसी प्रकार हर्ष-पयोधि में हिलोरें लेते रहें।

आहा वह समय, अबतक आंखों में फिर रहा है, वक्ताओंकी वह स्निग्ध गम्भीर-ध्वनि कानों में गूंज रही है, वह दिव्य-दृश्य हृदय पर अबलों अङ्कित है, जिसे स्मृति की आंखें अच्छी तरह देखरही हैं, पर देखो तो कुछ भी नहीं।

"ख्वाब था, जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था" ॥

प्रत्यक्ष, परोक्ष और वर्तमान, अतीत होगया, साक्षात् अनुभव का विषय स्मृतिमात्र रहगया, जिसे आंखों से देख और कानों से सुन रहे थे वह सिर्फ़ सोचने और याद करने के लायक रहगया। आह ऐसा समय क्या कभी इस जन्म में फिर देखने को मिलेगा ! उस शान्त पावन मूर्ति के फिर भी दर्शन होसकेंगे ! इन कानों से वे विचित्र बातें फिर सुन सकेंगे ?

किसी ने सच कहा है कि:—

मनुष्य अपने चित्त-पटपर नानाभाव और अनेक विचाररूपी रंगों से, मनोरथ-चित्र बना कर तयार करता है, और विधि, एक नादान बच्चे की तरह हाथ फेर कर उसे मेट देता है !

"मेरे मन कुछ और है कर्ता के मन और"

आगामी वर्ष के लिये जिन जिन महोदयों के साथ जिस जिस विषय पर शास्त्रार्थ और संवाद करने का प्रोग्राम पण्डितजी बना रहे

थे, वह योंही रहगया। सुननेवालों के दिल की दिल ही में रह गई, अफ़सोस !

'यह आरज़ू थी, तुझे गुलके रूबरू करते,
हम और बुलबुल बेताब गुफ्तगू करते"

होने को अब भी सब कुछ होगा, उत्सव होगा, व्याख्यान होंगे और शास्त्रार्थ भी होगा, सभा जुटेगी, श्रोता आवेंगे, कहने वाले कहेंगे, सुनने वाले सुनेंगे, वक्ता की वाणी से निकले हुए शब्द श्रोताओं के इस कान से उस में होकर निकल जायेंगे, 'पल्ला झाड़' कथा सुन कर उठ खड़े होंगे,

"कहने सुनने की गर्म बाज़ारी है,
मुश्किल है मगर असर पराये दिल में।
ऐसा सुनिये कि कहने वाला उभरे,
ऐसी कहिए कि बैठ जाए दिल में" ॥

दिल में बैठने वाली बात कहने वाला, मिलना मुश्किल है अनेक शास्त्रार्थ देखे, और बहुतेरी वक्तृताएं सुनीं, पर ऐसा प्रतिभाशाली ऊहवान् और मधुरभाषी, शास्त्रीयविषयों का सुवक्ता, विचित्र व्याख्याता हमारे देखने में तो आया नहीं। आशा भी नहीं है,

"मानों न अलीक भूमिकम्प ही से कांपता है,
विद्युतादि-वेगों से पहाड़ हिलता नहीं,
भानुका प्रकाश भव्य कारण विकाश का है,
तारों की चमक पाय "पद्म" खिलता नहीं।
"शङ्कर" रचीची कड़ी रेती रेत डालती है,
क्षुद्र छुरी छैनियों से हीरा छिलता नहीं,
हाय गणपति की अनूठी वक्तृता के बिना,
अन्य उपदेश सुने स्वाद मिलता नहीं" ॥

पद्मसिंहशर्म्मा।

(१) वादी, श्री पं० गणपति शर्मा जी।

(२) प्रतिवादी, श्री स्वा० दर्शनानन्द जी।

वादिपक्ष—वृक्षों में 'अभिमानी जीव' है।

प्रतिवादिपक्ष—वृक्षों में 'अभिमानी जीव' नहीं है॥

{८, एप्रिल १९१२ को पूर्वाह्न के समय, सवा दस बजे से आरम्भ होकर सवा ग्यारह बजे (एक घंटा) तक होकर समाप्त हुआ। वादी और प्रतिवादी के बोलने का समय पांच २ मिनट, सामयिकप्रधान-श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा सम्पादक 'भारतोदय'॥}

—:o:—

श्री पं० गणपति शर्मा जी—

ओ३म् ततसद्ब्रह्मणे नमः।

अब आज, इस बात पर विचार होगा कि वृक्षों में "अभिमानी" जीव है या नहीं; मेरा मत यह है कि वृक्षों में "अभिमानी" जीव है। सबसे पहले मैं इस विषय में वेद का प्रमाण देता हूं क्योंकि हम लोग आस्तिक हैं, और आस्तिकों के लिए "वेद" सब से बढ़कर प्रमाण है। अतः वेद का प्रमाण पेश करता हूं। "अथर्ववेद" के प्रथमकाण्ड के अनुवाक ६, सूक्त ३२, मन्त्र १ में देखो:—

"इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति न तत्पृथिव्यां नो दिवि "येन पृणन्ति वीरुधः"।

इस मन्त्र में "येन पृणन्ति वीरुधः" का अर्थ है कि "जिससे (वीरुधः) लताएं=बेलें जीव को धारण करती हैं"।

इससे यह पाया जाता है कि वृक्षों में "जीव" है क्योंकि लताएं वृक्षजात्यन्तर्गत हैं। दूसरा प्रमाण:—

"जीवला न धारिषं जीवन्तीमोषधीमहम्"—

अथर्ववेद—काण्ड ८, अनु० ४, मं० ६)

यहां "जीवन्तीमोषधीमहम्"—'जीती हुई ओषधि को' इस प्रकार

लिखा है, ओषधि का 'जीना' बिना जीव के नहीं हो सकता-अब इन दो वेदमन्त्रों के प्रमाण के पश्चात् 'छान्दोग्योपनिषत्' का प्रमाण पेश करता हूं:-

"अस्य सोम्य ! महतो वृक्षस्य यो मूले ऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्ये ऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्, स एष 'जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

अस्य यदेका ँ शाखां 'जीवो' जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥२॥

एवमेव खलु सोम्य ! विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति·····"इत्यादि ।

इसका अर्थ—हे सोम्य ! इस बड़े भारी वृक्ष को यदि मूल से काटें तो जीता हुआ स्रवण करता है (रस दूध आदि के टपकने से तात्पर्य्य है),यदि मध्यभाग में काटा जाय तो जीता हुआ स्रवण (टपकता है) करता है। यदि अग्रभाग (टहनी आदि) में काटा जाय तो जीता हुआ स्रवण करता है । इस रसआदि के टपकने से यह प्रतीत होता है कि यह वृक्ष जीवात्मा से (अनुप्रभूतः) व्याप्त या अधिष्ठित हुआ हुआ (पेपीयमानः) जल को तथा पृथिवी के रसों को अत्यर्थ (बहुत) पीता हुआ और लहलहाता रहता है और जब 'जीव' इस (वृक्ष) की एक शाखा को छोड़ता है तब वह सूख जाती है, जब दूसरी को छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है, जब तीसरी को छोड़ता है तो तीसरी सूख जातीहै,यदि सारे पेड़ को छोड़ जाता है तो सारा पेड़ सूख जाता है। हे सोम्य ! इस प्रकार(जैसे कि, पेड़ जीव से युक्त होकर रस आदि को भूमि में से जड़ों द्वारा पीपी कर हरा भरा रहता है और जीव के अलग हो जाने से सूख जाता है) यह (हमारा) शरीर, जीवसे

रहित हुआ हुआ निश्चयपूर्वक मरजाता है, पर जीव नहीं मरता... .....इत्यादि" ॥

इस से यह आया कि वृक्षों में जीव है। यह तीन श्रुति के प्रमाण हुए, अब स्मृति को प्रमाण देता हूं :—

देखो ! " मनुस्मृति" अध्याय एक, श्लोक ४१, से ५० तक।

"एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् । ४१ ॥

एवमेतैरिति—एवमित्युक्तप्रकारेण, एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम् । यथाकर्म, यस्य जन्तोर्योदृशं कर्म तदनुरूपम्' इत्यादि.....

भावार्थ—"इस प्रकार मरीचिआदि ने सब 'स्थावर' (वृक्षलताआदि), 'जङ्गम' (पशुपक्षी आदि) संसार बनाया, (यह नहीं कि योंही अटसट बनाया किन्तु) (यथाकर्म) जिस जन्तु (जीव) का जैसा कर्म था उसी कर्म के अनुसार उसको तत्सदृयोनि में पैदा किया.....इत्यादि"।

इस से यही सिद्ध होता है कि जन्तु अपने कर्मों के अनुसार जङ्गम और स्थावररूप सभी योनियों में जन्म लेता है, रहता है, तथा मरता है।

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

इस श्लोक में यह प्रतिज्ञा करके, कि 'प्राणी किस किस योनि में किस २ कर्म के अनुसार कैसा २ जन्म लेते हैं यह आगे कहताहूं" मनुमहाराज कहते हैं:—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥
४३, ४४, ४५ ॥

ऊपर लिखे इन तीनों श्लोकों में जरायुज, अण्डज और स्वेदजों की उत्पत्ति बता कर—

"उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥४६॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ४७ ॥
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥"

इन तीनों श्लोकों में नानाप्रकार के वृक्षों, बेलों तथा वनस्पतियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है अर्थात् इन योनियोंमें भी शुभाशुभकर्मानुसार जीव जन्म लेता है, तदनन्तर, यह शंका उत्पन्न होने पर कि " यदि जीव इन में जन्म लेता है तो चेतनता की प्रतीति हमें क्यों नहीं होती" ? मनु महाराज उत्तर देते हैं:—

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

इसका अर्थ श्रीमत्कुल्लूक भट्ट करते हैं कि:—

"ये वृक्षलता आदि तमोगुण से व्याप्त और सुखदुःख से युक्त होकर 'अन्तःसंज्ञ' अर्थात् अन्तश्चैतन्य होते हैं और यह तमोगुण उन के अधर्मकर्मों (धर्मविरुद्ध कर्मों) से उत्पन्न होता है और नाना दुःखरूपफलों का देने वाला होता है यद्यपि सब शरीरधारी अन्तश्चैतन्य ही होते हैं अर्थात् शरीर के अन्दर ही ज्ञान का अनुभव करते हैं तो भी वृक्षआदि को हमारे समान बाहर की ओर व्यापारआदि काम न करने से, 'अन्तःसंज्ञ' कहा जाता है। यद्यपि 'वृक्षाभिमानी जीव' भी 'सत्', 'रजः' और 'तमः' इन तीनों गुणों से युक्त होता है तथापि तमोगुण की अधिकता के कारण तमोगुण से व्याप्त माना जाता है-इसी लिए सुख और दुःख दोनों को ही अनुभव करता है क्योंकि मेघों से बरसे हुए जल के स्पर्श से (वृक्षों को) सुख भी अवश्य होता है (ऐसा सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है)।

इसी प्रकारः—

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरे ऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ४०॥

इसका अर्थ—'ब्रह्मा से लेकर स्थावर(वृक्षआदि) पर्य्यन्त यह सब जीव की उत्पत्ति के स्थान हैं .....इत्यादि'

इस प्रकरण से यह बात सुस्पष्ट है कि मनु महाराज भी वृक्षों में जीव का होना मानते हैं, तथा यह, श्रुति के अनुकूल होने से मान्य है।

इस प्रकार दो "श्रुति"के,एक "छान्दोग्योपनिषत्" का प्रमाण, तथा यह "मनुस्मृति" का प्रकरण, इस बात को सिद्ध करते हैं कि वृक्षों में जीव है।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी—

जो दो मन्त्र 'अथर्ववेद' के प्रमाणरूप से पेश किये गये हैं—उनका अर्थ ठीक नहीं— जो अर्थ पण्डित जी ने किया है वह पं० भीमसेन का किया हुआ है अतः स्वीकार नहीं हो सकता। मैं श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का अर्थ सुनाता हूं—दो प्रकार की हरकत 'गति' होती है—'हरकते-इरादी' और 'हरकते-इन्तज़ामी' अर्थात् 'विशेषगति' और 'सामान्यगति'। इस लिए 'येन प्राणन्ति वीरुधः' में 'जिस परमात्मा की शक्ति से लताएं प्राण धारण करती हैं' ऐसा अर्थ है। संसार के सूर्य्य, चांद आदि सब पदार्थ परमात्मा की 'सामान्यगति' (हरकते-इन्तज़ामी) से हरकत करते हैं न कि उन में कोई अभिमानी जीव है जिस (जीव) की 'हरकते-इरादी' से कि वे घूमते हों तथा लताएं प्राण धारण करती हों। जैसे एक मनुष्य के शरीर में जो गति (हरकत) पाई जाती है वह 'हरकते-इरादी' कहलाती है, क्योंकि पुरुष उसे अपने इरादे (इच्छा) से करता है—मनुष्य के शरीर में जो ख़ून की हरकत है वह 'हरकते-इन्तज़ामी' है, क्योंकि परमात्मा के प्रबन्ध से लहू की गति होती है, या जो मनुष्य की बनाई घड़ी में हरकत है वह 'हरकते-इन्त-

जाती' है— इसी प्रकार लताओं में 'प्राण धारण'-रूप-गति (हरकत) परमात्मा की 'हरकते-इनतजामी' (सामान्यगति) से अभिप्रेत है-इसी प्रकार 'जीवन्तीरोषधीम्' इस मंत्र में भी सामान्यजीवन से तात्पर्य्य है। अतएव वेदविरुद्ध स्मृति भी अप्रमाण है।

वृक्षों में 'जीव' के होने के विरुद्ध, मैं श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का प्रमाण देता हूं—देखो।

तीसरी बार की श्रुति-'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'-पुरुषसूक्त, मंत्र ४, पृष्ठ १२२—

'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् 'साशनानशने' अभि' ॥

इस मंत्र के 'साशनानशने' पद का अर्थ लिखते हैं कि—

(ततोविश्व०) ततस्तत्स.मर्थात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते.' किञ्च तत् ? (साशनानशने०) यदेकमशनेन, भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमोचयमानमशनं भोजनं यस्मिँस्तत्, पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्भवति, तदुभयं तस्मादित्यादि,

अर्थात् 'उस परमात्मा के सामर्थ्य से यह सब संसार उत्पन्न होता है। कौन कौन सा ?-'एक वह जो भोजन करता है— जिसे 'जङ्गम' जीव चेतनाआदि से युक्त जगत् कहते हैं, और दूसरा वह जो भोजन नहीं करता, जैसे 'पृथिव्यादि' जड़, जो कि जीव के सम्बन्ध से रहित जगत् है—यह दोनों प्रकार का जगत् पुरुष (परमात्मा) के सामर्थ्य कारण से उत्पन्न होता है'।

श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वती जी महाराज इस 'अनशन' शब्द के भाष्य में 'जीव-सम्बन्धरहितं पृथिव्यादिकं जडम्' लिखते हैं, अर्थात् जीव के सम्बन्ध से जो रहित हो वह 'जड़' कहलाता है और वह पृथिव्यादिरूप है—सो 'पृथिव्यादि' पद में 'आदि' पद से पृथिवी के कार्य्य 'वृक्ष' आदि भी पृथिवी के अन्तर्गत होने से जीव से रहित हैं क्योंकि पृथिवी जीव से रहित है अतएव जड़ है।

तथा 'वेद' में भी 'जीव' का अभाव 'वृक्षों' में पाया जाता है। देखोः-

"यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत् ।
इन्द्रो यो दस्युँ रधराँ अवातिरन्मरुत्वान्तं सख्याय हवामहे ॥५॥)
(ऋग्वेद, मं० १ । अष्टक १ । अध्या० ७, वर्ग १२)

इस मंत्र में 'जगतः प्राणतः' ऐसा लिखा है, अर्थात् 'जो परमात्मा प्राण धारण करने वाले समस्त जगत् का, या (विश्वस्य जगतः) गतिशील संसार का पति है'-

'जगत्' को 'प्राण धारण करने वाला' विशेषण देना यह सिद्ध करता है कि जो गतिमान् नहीं है, वह प्राण धारण भी नहीं करता, या जो प्राण धारण करता है वह गतिमान् है। सो 'वृक्ष' गतिमान् नहीं है, अतएव 'प्राणी' भी नहीं है, और 'सजीव' भी नहीं है'।

श्री पं० गणपति शर्म्मा जी--

"येन प्राणन्ति वीरुधः" में सामान्यगति (हरकते-हस्तक्षामी) का कोई ज़िकर तक नहीं, स्वामी जी को कोई कारण बताना चाहिए कि मुख्यार्थ अर्थात् विशेष-'प्राणन' को छोड़ कर क्यों गौण-'प्राणन' का आश्रयण किया जाय ? इसी प्रकार 'ओषधि' के लिए भी जो 'जीवन्तीम्' विशेषण आया है, वहां भी सामान्यगति (हरकते-हस्तक्षामी) का प्रकरण नहीं है। यह अर्थ पं० भीमसेन जी का पेटेन्ट नहीं है। जब तक उस अर्थ में कोई दोष न दिखाया जाय, वह मान्य है।

तथा जो 'साधनाशने' पद के भाष्य में से 'पथिव्यादि' पद के अन्तर्वर्त्ती 'आदि' पद से "वृक्ष लता" आदिका ग्रहण आप कर रहे हैं, वह ठीक नहीं है, वहां 'आदि' पद से "जल,वायु" आदि का ग्रहण होता है-यदि ऐसा ग्रहण न कर आप 'वृक्ष' आदि अर्थ लेने लगेंगे तो श्री स्वा० दयानन्द सरस्वती जी के लेख में पूर्वापर-

विरोध हो जायगा, क्योंकि वह वृक्षों में जीव को मानते हैं। देखो सत्यार्थप्रकाश-नवीं बारका छपा हुआ-पृष्ठ २३५-

"प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्यजन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूरजन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को "वृक्षादि" कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं" इत्यादि।

यहां स्पष्टतया 'वृक्षआदि'का जन्म स्वीकार करते हैं, इससे यह पाया जाता है कि परमात्मा जीवों को, उनके कर्मानुसार वृक्ष आदि योनियों में भी जन्म देता है अतः यहां (ऋग्वेद भूमिका में) 'आदि' पद से 'वृक्ष' आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिए—अन्यथा श्री स्वामी जी के लेख में पूर्वापरविरोध होगा। तथा जिस प्रकार आप बिना किसी कारण या प्रकरण के, मेरे प्रमाणरूपेणोपन्यस्त वेदमन्त्रों में प्रधानअर्थ को छोड़ कर, और (सामान्यप्रमाण) हरकते-इन्तज़ामी का अवलम्बन कर, 'गौण' अर्थ को स्वीकार करते हैं; इसी प्रकार मैं भी, आप के प्रमाणरूप 'साधनानशने' पद की व्याख्या में 'पृथिव्यादि' पद से लिए गये 'वृक्षादि' पदार्थों की जड़ता को यदि 'गौण' कहकर टाल दूं तो आप क्या कहेंगे? अन्यथा बताइये कि क्यों नहीं 'वृक्ष' आदि की गौणजड़ता मानी जाय? क्योंकि 'जड़' शब्द का प्रयोग 'चेतन' और 'अचेतन' दोनों के लिये पाया जाता है। देखो! श्री भर्तृहरि जी क्या कहते हैं:—

'जाड्यं धियो हरति.....'

कि 'सत्सङ्ग बुद्धिकी जड़ता को हरता है'—'बुद्धि' की जड़ता कैसी? श्री गौतम महाराज कहते हैं कि—

'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'-बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान-ये एकही पदार्थ के नाम हैं। फिर श्री भर्तृहरि जी 'बुद्धि की जड़ता' कैसे कहते हैं? 'ज्ञान की जड़ता'! 'प्रकाश का अन्धेरा'! यह परस्परविरुद्धधर्म क्योंकर सम्बन्धी होगये? इससे यही पाया जाता है कि 'जड़' शब्द का प्रयोग चेतन और अचेतन दोनों के लिए आता है, अतः श्री भर्तृहरि जीके वाक्य में 'बुद्धि की जड़ता' से अभिप्राय 'मान्द्य'-पुरटता से है। और यहां आपके मतानुसार 'पृथि-

आदि' पद के 'आदि' पद से गृहीत जो 'वृक्ष' आदि पदार्थ हैं, 'उनकी जड़ता का अभिप्राय जीवाभाव नहीं किन्तु आत्मज्ञानाभाव है (क्योंकि वे 'अन्तःसंज्ञ' होते हैं),यदि ऐसा अर्थ प्रकरण आदि की अपेक्षा न कर, किया जाय तो क्या वह आपको अभीष्ट होगा? यदि नहीं तो, फिर मेरे पक्ष में, 'सामान्य'=गौण अर्थ हो और आप के पक्ष में प्रधान ! यह कहां का न्याय है? इस 'अर्हन्नरतीय' न्याय का अवलम्बन क्यों किया जाय?

—:०:—

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी—

'सोल Soul' = आत्मा, और 'Life-लाइफ' = प्राण में भेद है। मनुष्य में 'Soul' आत्मा और 'Life' प्राण दोनों हैं वृक्षों में केवल Life 'प्राण' है Soul 'आत्मा' नहीं। अब 'येन प्राणन्ति वीरुधः' में साक्षात् Life 'प्राण' का निरूपण है-तो, जिस परमात्मा की शक्ति से लताएं प्राण धारण करती हैं अर्थात् "जिसकी 'हरकते-इन्तज़ामी' से लताएं (बेलें) प्राण श्वास लेती हैं" यह अर्थ हुआ न कि कोई जीवात्मा अपनी हरकते-इरादी से सांस ले रहा है—क्योंकि किसी जीवात्मा का यहां प्रकरण नहीं, परमात्मा का तो प्रकरण है क्योंकि:—

"इदं जनासो विदथं महद्ब्रह्म वदिष्यति, न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः"—

का अर्थ यों है कि "हे लोगो ! उस 'महाब्रह्म' को जानो, जिसके विषय में कि मैं तुमसे कहता हूं.....इस प्रकार महाब्रह्म का प्रकरण उठा कर कहा है कि (येन०) जिस परमेश्वर (की हरकते-इन्तज़ामी) से लताएं प्राण धारण करती हैं।" अतः, इस प्रकार हमने प्रकरण के अनुकूल ही गौणअर्थ किया है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्र 'जीवन्तीमोषधीम्' में भी 'जीवन्तीम्' शब्द आया है—जोकि 'जीव-प्राणने' धातु से बना है, 'जीव' धातु का अर्थ 'प्राण (श्वास) लेना' है अतः 'जीवन्तीम्' पद का अर्थ हुआ "जीती हुई (ओषधी) को" अर्थात् "प्राण धारण करती हुई को",

को यहां भी 'प्राण' मात्र का प्रकरण है, न कि किसी जीवात्मा का। और ओषधि का 'प्राण धारण करना' हरकते-इन्तज़ामी से है न कि किसी जीवात्मा की 'हरकते-इरादी' से।

तथा 'सत्यार्थप्रकाश' में से जो 'वृक्षादि' शब्द को लेकर, आप वृक्षों में जीव का होना (श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के मत के अनुसार है, ऐसा) सिद्ध करते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि 'वृक्षादि' शब्द 'क्रमविरुद्ध' होने से प्रक्षिप्त है। 'प्रक्षिप्त' पद की पहचान यह है कि जिस शब्द के निकाल डालने से अर्थ में कोई क्षति या भेद (फ़रक़) न आय, और रहने से किसी प्रकार का दोष होता हो, वह 'प्रक्षिप्त' है। यहां 'वृक्षादि' पद के निकाल देने से कोई फ़रक़ अर्थ(मानों) में नहीं आता प्रत्युत क्रम ठीक हो जाता है और रहने से 'क्रमविरोध' रूप दोष रहताहै। तथा ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के 'साशनानशने' पद के भाष्य से विरोध हो जाता है—अतः 'वृक्षादि' शब्द यहां प्रक्षिप्त है। 'क्रमविरोध' दिखाता हूं, देखो 'सत्यार्थप्रकाश'-२३५ पृष्ठ-

"प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्यजन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं"

यहां जङ्गमसृष्टि की जन्म-सम्बन्धिनी-विलक्षणता के उपन्यास से, ईश्वर में अन्याय आदि दोषों की आशङ्का करते करते 'हरिण गाय आदि पशु, के पश्चात् 'कृमि कीट पतङ्गादि' कहना चाहिये था क्योंकि पहले और अन्त में जङ्गमसृष्टि का प्रकरण है बीच में 'वृक्षादि' पद असम्बद्ध है क्योंकि वृक्षादि स्थावर है जङ्गमों में एक दम कूद कर स्थावर का आना क्रम को तोड़ देता है—अतः प्रक्षिप्त है। एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'साशनानशने' पद के भाष्य से विरोध हो जाता है-क्योंकि वहां "पृथिव्यादिकं जीवसम्बन्धरहितं जडम्" पृथिवी वृक्षआदि को जीव के सम्बन्ध

से रहित 'जड़' लिखा है। यदि 'सत्यार्थप्रकाश' में 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त न माना जाय तो वृक्षादि के जन्म का प्रतिपादकग्रन्थ होने से, जड़प्रतिपादकग्रन्थ से विरोध हो जायगा—और यह समानकर्तृकग्रन्थों में नहीं होना चाहिए—परन्तु 'वृक्षादि' पद के निकाल डालने से क्रमविरोध और पूर्वापरविरोध, दोनों दोषों की निवृत्ति हो जाती है। इस लिये यह 'वृक्षादि' शब्द प्रक्षिप्त है। अत एव च श्री स्वा० दयानन्द सरस्वती जी के लेख में 'पूर्वापरविरोध' रूप दोष के परिहार के लिए 'वृक्षादि' पद को निकाल डालना चाहिए। न कि 'साधनानशने' पद के भाष्य में लिखे गये 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से वृक्षादि अर्थ न लेना चाहिये! (अर्थात् 'वृक्षादि' अर्थ अवश्य लेना चाहिए। 'काक्वा' सं')।

इसी प्रकार 'वेदान्तदर्शने' (शारीरक-भाष्य) में भी, वृक्षादि में, मुख्य और गौण जीवात्मा के होने के विषय में सिद्धांत किया है कि वृक्षों में मुख्य जीव नहीं है किन्तु 'गौण' अर्थात् 'अनुशायी'(?)जीव है। गूलर के फलों में जो कीड़े रहते हैं वे 'अनुशायी,(?)जीव हैं, अर्थात् वृक्षादि के अभिमानी जीव न होकर जो केवल बसेरा मात्र लेते हैं वे 'अनुशायी' (?) जीव कहलाते हैं जैसे मनुष्य के शरीर में अहंभाव वाला जीवात्मा तो 'अभिमानी' जीव है और इस शरीर में यूका (जूं) आदि "अनुशायी" (?) जीव हैं। देखो!

'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्'

(वेदान्तसूत्र,अध्याय ३, पाद १, सू०२४)

इस सूत्र का शारीरकभाष्य (उत्तर पक्ष) "व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशायिनः (?) प्रतिपद्यन्ते" अर्थात् व्रीहि (धान) आदि में 'अनुशायी' (?) जीव सम्बन्धमात्र रखते हैं"—

इस वेदान्त सूत्र तथा भाष्य के प्रमाण से भी यही पाया जाता है कि वृक्षों में 'अभिमानी' जीव नहीं है।

श्री कणाद महर्षिजी,भी वृक्षों में जीवात्मा को नहीं मानते। देखो!

'वैशेषिकदर्शन':—

"तत्पुनः पृथिव्यादिकार्य्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्"—

अर्थात् "पृथिवी आदि कार्य्यद्रव्य 'शरीर' 'इन्द्रिय' और 'विषय' इन भेदों से तीन प्रकार का है । इस सूत्र पर 'प्रशस्तपाद-भाष्य, में व्याख्या देखो: —

"त्रिविधञ्चास्याः कार्य्यं, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् .....तत्र शरीरं द्विविधं: योनिजमयोनिजम्..... इन्द्रियं गन्धव्यञ्जकं.....विषयस्तु द्व्यणुकादिक्रमेणा-रब्धस्त्रिविधो मृतपाषाण—स्थावर—लक्षणः, तत्र भूप्रदेशाः प्राकारेष्टिकादयो मृद्विकाराः, पाषाणा उपलमाणिवज्रादयः, स्थावरास्तृण-गुल्मौषधि-तरु-लता-वितान-वनस्पतय इति ।"

इस भाष्य में शरीर, इन्द्रिय और विषय को पृथक् पृथक् माना है, [परन्तु यह तीनों पृथिवी के कार्य्य हैं और पृथिवी 'जड़' है अतः ये भी जड़ हैं। 'भोगायतनं शरीरम्' भोग का आश्रय, 'शरीर' कहलाता है, भोग के साधन 'इन्द्रिय' हैं । 'विषय'=भोग्य अर्थात् भोग में आनेवाली वस्तु को कहते हैं । यहां पृथिवी के विकार रूप जो विषय हैं; श्री प्रशस्तपादाचार्य, श्रीकणाद महर्षि के दर्शन के भाष्य में बताते हैं कि वे (विषय) तृण [घास] आदि हैं ।

अब इन विषयों को, जो कि भोग्य हैं, यदि 'शरीर' मान लिया जाय तो [क्योंकि जब वृक्षों में 'अभिमानी' जीवात्मा माना जायगा तो यह वृक्ष आदि उस (जीवात्मा) के शरीर होंगे] वैशेषिकदर्शन से विरोध होगा क्योंकि 'शरीर' और 'विषय' में भेद है, 'विषय' अर्थात् भोग्यपदार्थ भोग का आश्रय [शरीर] नहीं होसकते, अतः भोक्ता [जीवात्मा]के भोग्य [विषय] वृक्ष आदि हैं— वे जड़ हैं अतएव जीव से रहित हैं क्योंकि 'चेतन शरीर' भोग्य [विषय] नहीं होसकता [यद्यपि शरीर भौतिक है तथापि चेतनाधिष्ठित होने के कारण गौणवृत्या 'चेतन' के समान लोक में माना जाता है]।

श्री० पं० गणपति शर्मा जी-

'सत्यार्थप्रकाश' के 'वृक्षादि' पद को क्रमविरुद्ध नहीं कहसकते क्योंकि वहां क्रमशः किसी विषय का निरूपण विवक्षित नहीं है। 'क्रम' की आवश्यकता तो वहां होती है जहां वक्ता किसी प्रतिपाद्य विषय में क्रम की विवक्षा रखता हो। यदि विना विवक्षाके ही क्रम का अड़ंगा लगाया जायगा तो वेद में भी 'क्रमविरोध' हो जायगा, देखो!

"पुरुषसूक्त" में "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः" इस मन्त्र में पशुओं की उत्पत्ति, तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः-इस मन्त्र में वेदों की उत्पत्ति ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इस में ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति तदनन्तर "चन्द्रमा मनसो जातः" में चांद, सूर्य, वायु, प्राण और अग्नि आदि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

यदि इस सूक्त पर 'क्रमविरोध, का कुठार उठाया जायगा तो 'सूक्त' रूपी तरु का पत्ता पत्ता छिन्न भिन्न हो जायगा-'पशु' 'वेद' 'ब्राह्मण-आदि वर्ण' चांद, सूर्य,वायु,प्राण और अग्नि' क्या इसी लिखे गये क्रमसे उत्पन्न हुए थे? क्या इस सृष्टिक्रम को कोई बुद्धिमान् मान लेगा? क्या यह बात बुद्धिमें आ सकतीहै कि पशु पहले उत्पन्न हों और वेद पीछे? क्या वे वेद पशुओं के आशय (मन) में प्रकाशित हुए थे? क्या चांद, सूर्य, आग, पानी, हवा आदि के उत्पन्न होने से पहले ही पशु और ब्राह्मण आदि उत्पन्न हो गये और जीते रहे? इस बात को कोई विज्ञानवेत्ता मान लेगा? ऐसे 'विरुद्धक्रम, से आक्रान्त, वेद को भी क्या आप प्रक्षिप्त मानेंगे? यदि आप यहां 'क्रमविरोध' के कारण वेदमन्त्रों को प्रक्षिप्त मानने के लिए तय्यार नहीं हैं, तो फिर 'सत्यार्थप्रकाश' बेचारे ने ही क्या अपराध किया है? हम क्यों यहां 'वृक्षादि, पद को प्रक्षिप्त मान लें? प्रक्षिप्त अंश वहीं माना जायगा जहां क्रम की विवक्षा सिद्ध होगी, जब यहां (सत्यार्थप्रकाश में) किसी क्रम के प्रतिपादन में अभिप्राय ही नहीं है तो फिर आप क्योंकर 'क्रमविरोध' सिद्ध कर सकते हैं? यहां तो केवल, योनिविलक्षण्य के उपन्यसन से, परमात्मा में,अन्यायात्मकदूषण के (पूर्वपक्षीण)

उद्भावन में अभिप्राय है-जिस में कि पूर्वपक्षी की ओर से श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने, वृक्षादि भी 'जीवात्मा का शरीर (भोगाश्रय) होने के कारण रख दिये, बस इस शङ्काग्रन्थ का इतना ही अभिप्राय है-अतएव प्राक्षिप्त भी नहीं है (हेत्वसिद्धेरित्यर्थः, क्योंकि आपका 'विरुद्धकरण' रूप हेतु ही सिद्ध नहीं हो सकता ! जिस का कि अवलम्बन कर, आप विरोध (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से) दिखाया चाहते हैं ।

दूसरे यह कि ऋ० भा० भूमिका से विरोध तो तब होगा न ? कि जब पहले आप 'साशनानशने' पद के भाष्यके 'पृथिव्यादि' पदके 'आदि' पदसे वृक्ष आदिका ग्रहण युक्तियुक्तहै-ऐसा सिद्ध करलेंगे ! वही तो आप किसी प्रकार सिद्ध नहीं करसकते, एक अस्वाभाविक और दीर्घकल्पना के पश्चात् आप 'क्रमविरोध' आदि की दुर्घट घाटियों को तै करके यह निश्चय निकालतेहैं कि 'वृक्षादि,पद प्रक्षिप्तहै महतो वंशाल्लट्टाकर्षणोदाहरणमनुहरणप्रेतच्छीमताम्] खोदा पहाड़ और निकला चूहा ! और वह भी अधनुआ ! अतः 'वृक्षादि' पद को प्रक्षिप्त कह कर, 'ऋ० भा० भूमिका' में के 'साशनानशने' पद के भाष्य में से 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से वृक्षों का ग्रहण करके, एवं उनकी जड़ता सिद्ध कर के, सत्या० के इस प्रकरण से हमारे दिये गये 'पूर्वापरविरोध' का परिहार आप नहीं करसकते । हो महाराज ! भूमिकामें 'वृक्ष' आदि का ग्रहण न कर जल वायु आदिका ग्रहण करना चाहिए- अन्यथा आप के पक्ष में मेरी ओर सेदिएगए 'पूर्वापरविरोध' का परिहार नहीं होसकेगा इसलिए यही मानना चाहिए कि श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वती जी महाराज, वृक्षों में अवश्य 'अभिमानी' जीव को मानते हैं ।

'साइंस'- के अनुसार ही यदि आप 'Soul' आत्मा और 'Life' प्राण को मानते हैं तो पशुओं में भी आपको Life प्राण ही मानना चाहिए क्योंकि साइंटिस्ट लोग पशुओं में Soul आत्मा को नहीं मानते । अतएव पशुओं के मारने में हिंसा भी नहीं माननी चाहिए । परंतु ऐसा मानने के लिए आप कभी भी तय्यार नहीं हैं । यदि आप वृक्षों में साइंस के अनुसार तो 'प्राण' माने और

पशुओं में (साइंस के सिद्ध) आत्मा मानें तो यह 'अर्धजरतीय' न्यायाचरण आपको शोभा नहीं देगा अतः वृक्षों में Life प्राण मात्र मान कर और उसका परमात्मा की "हरकते-इन्तज़ामी" से चलना मान कर आप वृक्षों में जीव का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि 'प्राण' बिना 'जीव' के हो ही नहीं सकता! पर आत्मा की हरकते-इन्तज़ामी तो सभी जगह मानी ही जाती है- मनुष्य के शरीर में भी तो परमात्मा की ही हरकते-इन्तज़ामी से 'प्राण' चलते हैं। यदि जीवात्मा के ही अधीन प्राण हों तो मरते समय वह प्राणों को कभी भी न निकलने दे। अतः 'येन प्राणन्ति वीरुधः, जीवन्ती ओषधीम्' इन मन्त्रों में लताओं आदि का प्राण धारण करना, बिना जीव के उपपन्न ही नहीं हो सकता अतः वृक्षों में जीव का अपलाप कर, केवल हरकते -इंतज़ामी से काम नहीं चलसकता। क्योंकि प्राण बिना जीव के कभी रह ही नहीं सकता--'आत्मा' का नाम ही जीव इसी लिए है कि वह प्राण धारण करता है -देखो! श्रीमहर्षि 'पाणिनि' जी महाराज 'जीव - प्राणने' लिखते हैं कि जीव धातु प्राणन (श्वास लेना रूप) अर्थ में है। और वृक्षों में प्राण आदि का होना पहले कही गई श्रुति और स्मृति द्वारा सिद्ध है— आप की 'साइन्स' भी इन में Life प्राण को मानती है। यदि इन्हें 'नाइट्रोजन' न मिले तो ये सूख जायं। अतः प्राण की सत्ता, जीव की सत्ता की साधिका है।

'वेदान्त सूत्र' में 'मुख्य' और 'गौण' जीव पर कोई विचार नहीं है, वहां तो 'पञ्चाग्निविद्या' के प्रकरण पर विचार है।

तथा, आपने जो मेरी पेश की हुई श्रुति पर, 'गौण-प्राणन' मान कर आक्षेप किया था- और उस में जो हेतु दिया था-उस सबका निराकरण मैं कर चुका हूं। अतः 'श्रुति' तथा 'छान्दोग्योपनिषत्' और 'मनुस्मृति' के प्रमाण से यह मानना चाहिए कि 'वृक्षों में जीव है'। अन्यथा आपको बताना चाहिए कि, जिस प्रकार, बिना

कारण के, मन्त्रों में 'सामान्यमति' का आश्रयण आप करते हैं ऐसे ही आप के 'साशनानशने' पद के भाष्य में 'पृथिव्यादि' पद में 'आदि' पद से गृहीत वृक्षादि में 'गौण जड़ता' (बहिःसंज्ञत्वाभावात्मिका) क्यों न मानी जाय? यह कहाँ का न्याय है कि मेरे पक्ष के हेतु को तो 'गौणता' की उपाधि से उड़ा दिया जाय और आपका सोपाधिक-हेतु उसी गौणता से बचा रहे।

श्री० स्वामी दर्शनानन्द जी---

'छान्दोग्योपनिषत्' के 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य' इत्यादि मन्त्र के प्रमाण से, जो वृक्षों में जीव का होना सिद्ध किया गया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि यहां वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' है, 'पेड़' नहीं। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र में 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' किया गया है, 'वृक्ष' शब्द "ओव्रश्चू छेदने" धातु से बना है अर्थात् (अविद्याकार्य्यत्वात्तत्वज्ञानादिना छेदनयोग्यं शरीरमिति) 'वृक्ष' नाम शरीर का है क्योंकि तत्वज्ञानआदि से छेदन किया जासकता है। दूसरा हेतु यह है कि इस श्रुति में 'म्रियते' पद आया है, वृक्ष के लिए 'म्रियते' (मरना) पद कहीं नहीं आता। प्रत्युत शरीर के लिए ही 'म्रियते' पद का प्रयोग होता है, 'जीवात्मा' के लिए भी 'म्रियते' पद नहीं आसकता क्योंकि जीव 'नित्य' है। इसलिए "अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य" इस श्रुति से, 'वृक्ष' शब्द शरीरपर्य्याय होने से, वृक्षों में जीव का होना सिद्ध नहीं हो सकता।

'सत्यार्थप्रकाश' में भी 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है क्योंकि वहां 'वृक्षादि' पद के होने से लेख का क्रम टूट जाता है, क्योंकि 'ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्यजन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, 'किन्हीं को' 'वृक्षादि'– इतने पाठ के पश्चात् पहली लेख-प्रणाली के अनुसार, 'कृमि कीट पतङ्गादि'–इस लेख के पूर्व 'किन्हीं'

को' ऐसा पाठ अवश्य आना चाहिए था- परन्तु ऐसा पाठ है नहीं, और विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'वृक्षादि' शब्द के पूर्व, जो 'किन्हीं को' पद आया है वह 'कृमिकोटपतङ्गादि' पद से पहले था और अब 'वृक्षादि' पद के मिला देने से वह ('किन्हीं को' पद) उससे दूर जा पड़ा! अतः 'लेखशैली, तथा पूर्वोक्त (आर्षिक) क्रमविरोध तथा भूमिका के 'साशनानशने, पद के भाष्य से विरुद्ध होने के कारण यह 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है। क्योंकि यहां पृथक् अनमेल सा होने से खटकता है, अतः 'सत्यार्थप्रकाश' के इस लेख से वृक्षों में जीव का होना सिद्ध नहीं किया जा सकता और न भूमिका के 'साशनानशने' पद के भाष्यान्तर्गत 'पृथिव्यादि, पद के 'आदि' पदसे लिए गये 'वृक्षआदि' अर्थ के कारण, पूर्वा परविरोध हो सकता है।

एवं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, में जो आप वृक्षआदि की 'गौण' जड़ता की कल्पना करते हैं कि जड़ता से अभिप्राय 'बाह्य-ज्ञानाभाव' क्यों न लिया जाय यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वहां 'जीवसम्बन्धरहितं जड़म्' यह जीव का लक्षण कर दिया गया है-'लक्षण' में गौणकल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षण में औपचारिक (गौण) पद नहीं रखे जाया करते-औपचारिकपद तो सामान्य बोल चाल आदि में ही हुआ करते हैं जैसे कहा जाय कि "ज्वालापुर आगया, यहां 'ज्वालापुर'-नगर जड़ वस्तु है उस में 'आना' क्रियक्रिया नहीं हो सकती, अतः उसका गौण अर्थ यह लिया जाता है कि, हम ज्वालापुर में आगये, अतः वृक्षों की जड़ता से कोई गौणअर्थ नहीं लिया जासकता क्योंकि यहां लक्षण कर दिया गया है कि हमारा (स्वा० दयानन्द जी का) अभिप्राय 'जीवाभाव' से है तो यह बात अर्थात् सिद्ध हुई कि 'जीवाभाव' से अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की कल्पना वहां नहीं कर सकते अब यह बात स्पष्ट हो गई कि 'पृथिव्यादि' जीव से रहित हैं और इसे आप भी मानते हैं, अन्यथा पृथिव्यादि में भी आप को

गु विरजानन्द ...
[२४] सन्दर्भ 1724 सत्यार्थ।
गु परिग्रहण ...
दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र

जाँच माननी पड़ेगी जो कि अप्रैक्ष प्रमाणरूप नहीं है। अतः भूमिकासे विरोध न आने पाये अतः सत्यार्थप्रकाश में से 'वृक्षादि' पद को निकाल डालना चाहिए।

तथा "प्रशस्तपादभाष्य" में शरीर, इन्द्रिय और विषय के पृथक् २ माने जाने से, 'विषय' जो वृक्ष आदि हैं-वे 'शरीर' नहीं हो सकते। भोग का आश्रय ही 'भोग्य' नहीं हो सकता। वृक्षआदि को यदि जीव से युक्त माना जायगा तो वृक्षआदि, स्वाभिमानी जीव के शरीर होंगे, ऐसी दशा में 'वृक्ष', भोग का आश्रय 'शरीर' हुआ-वह 'भोग्य' क्योंकर हो सकता है? जैसे कि मनुष्य का 'शरीर', 'विषय' नहीं हो सकता, फिर चाहे वह (शरीर) पार्थिव ही क्यों न हो जैसे कि 'विषय' पार्थिव हैं। परन्तु श्रीकणाद के भाष्यकार श्रीप्रशस्तपादाचार्य्य वृक्षों को भोग्य (विषय) कह रहे हैं, 'विषय' भोक्ता के भोगने के लिये होते हैं, यदि वृक्षों में तदभिमानी जीव मानकर, उनको शरीर माना जायगा, तो वह जीव उसी शरीर को 'भोग्य' कर जाय—इस प्रकार की कल्पना सर्वथा असमंजस है अतः यही निश्चय है कि 'वृक्ष' विषय हैं अतएव जड़ हैं अर्थात् जीव-सम्बन्ध से रहित हैं।

वेदान्त में 'पंचाग्निविद्या' का प्रकरण नहीं है, वहां तो यह कहा गया है कि 'व्रीहिआदि में 'अनुशयी (?) जीव' संसर्ग-मात्र को प्राप्त होते हैं'। और 'छान्दोग्योपनिषत्'के 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य' इत्यादि भाग पर भाष्य में श्री शङ्कराचार्य्य जी लिखते हैं कि:—

"बौद्धमते स्थावराश्चेतनाः, कणादमते तु स्थावरा जड़ाः(?)"

अर्थात् बुद्धानुयायियों के मत में स्थावर (वृक्षआदि) चेतन हैं और कणाद के मत में स्थावर जड़ हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि शंकराचार्य्य, आस्तिक कणाद के मत को स्वानुकूल होने से स्वीकार करते हैं और बौद्धमत का खण्डन करते हैं क्योंकि वे

(बौद्ध लोग) नास्तिक थे। अतः वेदांतसूत्रभाष्य तथा छान्दोग्योपनिषद्भाष्य में श्री शङ्कराचार्य्य जी भी वृक्षों में जीव के अभाव को मानते हैं।

—:o:—

श्री पं० गणपति शर्मा जी—

यद्यपि यह बात सत्य है कि:—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं 'वृक्षं' परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'।

तथा:—

समाने 'वृक्षे' पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः, जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' ॥

इत्यादि मन्त्रों में 'रूपकालङ्कार' होने के कारण 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'देह' ले लिया जाय क्योंकि यहां 'जीवात्मा' तथा 'परमात्मा' के तत्व का निरूपण, उनको दो पक्षियों के समान मान कर किया गया है। जैसे पक्षी वृक्ष पर बैठते हैं और उसके (पिप्पल) फल को खाते हैं ऐसे ही जीव और परमात्मा रूपी पक्षियों के लिए "उच्छेदनसामान्य" से (अर्थात्, जैसे छेदन से, नष्ट हो जाने के कारण पेड़ का नाम 'वृक्ष' है वैसेही 'देह' भी तत्वज्ञान से नष्ट (छिन्न) हो जाता है, अतः छेदनरूप-समानधर्म्मवान् होने के कारण 'देह' के लिये यहाँ 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है) 'देह' वृक्षरूप है। और इसी लिए 'पिप्पल' शब्द, भोग्य के समान होने के कारण कर्मों के शुभाशुभ फलों के अर्थ में माना जाता है परन्तु 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य' इस श्रुति में कोई ऐसा कारण प्रतीत नहीं होता कि क्यों यहाँ भी 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' लिया जाय? यह कोई दलील नहीं कि एक स्थान में, कारणविशेष से एक शब्द, अमुक अर्थ में आगया अतः सर्वत्र उसी अर्थ में उसे

माना जाय; ऐसा मानने से सर्वत्र अव्यवस्था तथा अनाचार हो जायगा। और प्रत्येक स्थान में, आप स्वरस अर्थ को छोड़कर 'गौण' कल्पना करते हैं, कहीं 'प्रदीप' का सङ्गीत लगा देते हैं, क्यों नहीं स्वरसअर्थ को स्वीकार कर सीधी कल्पना का अवलम्बन करते ? जब 'वृक्ष' शब्द का मुख्य प्रयोग 'पेड़' के लिए सर्वलोक में किया जाता है तो बिना कारण, क्यों गौणकल्पना तक दौड़ने का परिश्रम उठाया जाय ? एक क्षणभर के लिए यदि 'वृक्ष' शब्द का अर्थ यहां बिना किसी कारण के आपके अनुरोधमात्र से, 'शरीर' ही मान लिया जाय तो आप ही फिर बताइये कि:—

"अस्य सोम्य ! महतो वृक्षस्य मूले ऽभ्याहन्यात्, मध्ये ऽभ्याहन्यात्, अग्रे ऽभ्याहन्यात्, जीवयन्नो मोदमानस्तिष्ठति, एकां शाखां जहाति, द्वितीयां तृतीयां.....सा, शुष्यति, सर्वः शुष्यति.....,

इत्यादि में शेष 'वृक्ष'=पेड़सम्बन्धी बहुतों का क्या हाल होगा? इन बेचारों की क्या गति होगी ? इनके, 'वृक्ष ('शरीर' अर्थ मान कर) का मूल (जड़), मध्य, अगला भाग, शाखा (टहनी), एक शाखा, दूसरी शाखा, तीसरी शाखा, सब शाखाएं, उन शाखाओं का सूखना, सारे वृक्ष का सूखना' आदि शब्दों के झटपट स्फुरण होने वाले स्वरस अर्थ को छोड़ कर वहां तक गौण-कल्पना के लिये अनर्थ-शिरःकपाल को परिश्रान्त करेंगे ?

और आप यह जो कहते हैं कि "वृक्ष के लिये 'म्रियते'(मरना) शब्द का प्रयोग नहीं होता और शरीर के लिए 'म्रियते' प्रयोग होता है अतः 'वृक्ष' शब्द का अर्थ शरीर, लेना चाहिये–" यह भी आप का कहना ठीक नहीं है– यहां 'म्रियते' पद शरीर के लिये आया ही है–पर, ऐसा नहीं, जिस प्रकार कि आप जोड़, तोड़ कर रहे हैं– उपनिषद् के सब प्रकरण को देखिये !

भूयएव मा भगवान् विज्ञापयतिवति, तथा सोम्येति होवाच'—

श्री आरुणि उद्दालक जी महाराज स्वपुत्र 'श्वेतकेतु' को नाना प्रकार के दृष्टान्तों से 'आत्मज्ञान' के लिए उपदेश कररहे हैं, श्वेतकेतु नहीं समझता और बार २ कहता है कि 'भगवान् मुझ को फिर बतावें कि आत्मा कैसे नित्य है और शरीर कैसे अनित्य है? पिता कहते हैं कि 'सोम्य'! सुनो- (दृष्टान्त से समझाते हैं)

'अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य-इत्यादि आरम्भ करके "सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति" यहां तक वृक्ष का दृष्टांत देकर दार्ष्टान्तिक-वाक्य से उपसंहार करते हैं कि:—

'एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच,जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते नजीवो म्रियते इति'

इसी प्रकार (जैसे कि वृक्ष की दशा वर्णन की गई) हे सोम्य! जीव से वियुक्त होकर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता"

परन्तु आप दृष्टांत तथा दार्ष्टान्तवाक्य को, सब एकमय (?) करके यह समझ रहे हैं कि यह 'मरना' भी जरूर आए 'वृक्ष' (जिस का अर्थ आप शरीर मान बैठे हैं) के लिए ही प्रयुक्त हुआ है—हालांकि 'म्रियते' पद दृष्टान्त में कहे गये वृक्ष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ यदि ऐसा होता तो 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते' न होता किन्तु 'जीवापेतो वाव किलायं म्रियते' ऐसा पाठ होता जैसे कि जरूर "सर्वः शुष्यति" में हुआ है क्योंकि वृक्षशब्द पुंलिङ्ग है । उस के विशेषण भी पुंलिङ्ग में ही होने चाहिएं थे। और कदाचित् आप नहीं मानते और सर्वथा पाठ की अवहेलना तथा पूर्वाचार्यों की व्याख्या का निरादर कर स्वतन्त्र घोड़ सोड़ किए बिना नहीं सन्तुष्ट होते तो हम यह भी लिख करते हैं कि वृक्षों के लिए भी 'मरना' शब्द का प्रयोग होता है, देखिए! लोक में बोलते हैं कि "फ़सल मारी गई" "खेती मारी गई"। तथा रघुवंश में देखिए!

"अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता" ॥
(८-४५)

इस की टीका में 'मल्लिनाथ' लिखते हैं:—

अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्ति–मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनि मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मतं'—

अतः संस्कृतभाषा में भी वृक्षों के लिए 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग आता है ।

अतः, चूंकि वृक्षों के लिए 'म्रियते' पद का प्रयोग हो नहीं सकता इस लिए यहां 'वृत' शब्द का अर्थ पेड़ भी नहीं होसकता' ऐसा आप नहीं कह सकते ।

तथा जो आप श्रीकणाद तथा श्री प्रशस्तपादाचार्य्य के सिद्धान्त का उपन्यास कर श्रुति, स्मृति तथा श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी के लेखों में मुख्यार्थ को छोड़ कर, गौण कल्पना तथा प्रक्षेप आदि प्रपञ्च रचते हैं वह ठीक नहीं है । क्योंकि श्रुति तथा श्रुत्यनुसारी स्मृति—वचनों से विरुद्ध होने के कारण, 'कणादस्मृति' हेय (त्याज्य) है । यदि आप स्मृति के बल से ('वैशेषिकदर्शन' स्मृति ही है) काणादमत की स्थापना करेंगे तो हम भी मानवमत को स्मृतिरूप से प्रत्यवस्थापित करेंगे । ['स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्' (वेदान्तसूत्र) का यही आशय है] इन दोनों में से एक को अवश्य मानना होगा और दूसरी को अवश्य छोड़ना होगा—दोनों विरुद्धज्ञान की समर्पिका होने से अङ्गीकार्य्य नहीं हो सकतीं । अतः श्रुति के अनुकूल होने के कारण मनु का पक्ष ग्राह्य है और श्रुतिविपरीत काणादमत अनुपादेय है । सो महाराज ! वेदविरुद्ध काणादमत के बल पर, आप हम पर आक्षेप नहीं कर सकते ।

तथा छान्दोग्योपनिषत्–शाङ्करभाष्य में भी 'बौद्धमते स्थावराश्चेतनाः, काणादमते तु स्थावरा जडाः (?!?) यह विचित्र पाठ सुनाकर सभ्यजनों को कतरव्यौंत कर रहेहैं, देखिए ! यहां का ठीक पाठ और उस का अर्थ :—

'वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति, बौद्धकाणादमतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति' ।

इस शाङ्करभाष्य पर श्री आनन्दगिरिकृतटीका भी देखिए:-

'यत्तु वैशेषिकवैनाशिकाभ्यां स्थावराणां निर्जीवत्वेना-चेतनत्वमुक्तं, तदेतन्निरस्तमित्याह-वृक्षस्येति। 'आदि'-शब्दो बुद्धिमोदादिसंग्रहार्थः । , 'स एष वृक्षो जीवेनात्मनानुप्रभूत' इति दृष्टान्तश्रुतिः ॥ २ ॥

इस का अर्थः—

'रस के टपकने और सूखने आदि हेतुओं से वृक्षों का जीवधारी होना, और दृष्टान्तश्रुति से, स्थावर, चेतना वाले हैं (यह बात सिद्ध हुई),(इति-इतिहेतोरित्यर्थः) इस लिए,बौद्धों और काणादों का मत,कि स्थावर अचेतन (जड़) हैं-यह बात 'असार' (सारहीन-झूठ) है, (अर्थापत्त्या) दिखा दी गई' ।

आनन्दगिरिकृतटीका का अर्थः—

'वैशेषिक, अर्थात् कणाद के मत को मानने वाले, तथा वैनाशिक' अर्थात् बौद्धआदि नास्तिक लोग, जो यह कहते हैं कि 'जीव से रहित होने के कारण स्थावर अचेतन हैं,- यह बात खण्डित हो गई अतः भाष्यकार कहते हैं 'वृक्षस्य' इत्यादि (मूल में)। भाष्य के 'शोषणादि' पद में जो 'आदि' पद है उस से बुद्धि और मोद (प्रसक्तता) आदि समझना । 'स एष वृक्षो जीवेनात्मनानुप्रभूतः'-यह 'दृष्टान्तश्रुति' है ।

इस प्रकार (शाङ्कर) भाष्य का यह ठीक पाठ तथा अर्थ, इनने खोल दिया है-आप जो पाठ सुनाते हैं वह, न जाने, कहां का है ! इसी प्रकार आप सब स्थानों में प्रमाणाभास तथा युक्त्याभास से, न जाने, क्यों प्रेम रखते हैं !

वेदान्तदर्शन के अध्याय ३ के प्रथमपाद में 'पञ्चाग्निविद्या'-सम्बन्धी नानाविचार हैं-उस में से यह छठा अधिकरण है जिसे

आप मनचाहा नोच खसोट रहेहैं-प्रथम तो 'अनुशयी' शब्द है, 'अनुशायी' नहीं । जिस का अर्थ है 'अनुशयवाले' । 'अनुशय' कर्म को कहते हैं । इसी पाद में:—

"कृतात्यये अनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च"

इस सूत्र में यह निश्चय कर चुके हैं कि 'जो लोग 'चन्द्रलोक' में जाते हैं, क्या वे अपने सब कर्मों के फल को भोग कर 'भूलोक' पर उतरते हैं या कुछ कर्म (शेष) साथ लेकर उतरते हैं ? इस प्रकार आशङ्का करके वहां यह निर्णय किया है कि 'कृतात्यये' अर्थात् उन कर्मों के (जिनके कारण कि 'चन्द्रलोक' में जाते हैं) फल की समाप्ति पर 'अनुशयवान्' अर्थात् 'और और कर्मों से युक्त' (चन्द्रलोकप्राप्तिनिमित्तककर्मेतरकर्मवन्त इतिभावः) ही उतरते हैं—इत्यादि । फिर इस छठे अधिकरण में यह विचार है कि वही 'अनुशयी' (अनुशायी (?) नहीं) जीव जोकि चन्द्रलोक से अवरोहण कर रहे हैं क्या:—

'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते'—

इस श्रुति का यह अभिप्राय है कि वे जीव, व्रीहि (धान) ओषधि आदि की जाति 'अन्न' को प्राप्त हो जाते हैं या इस (वनस्पति आदि) से सम्बन्ध मात्र रखते हैं ? इस प्रकार सन्देह करके, पूर्वपक्षी की ओर से यह कह कर कि 'धान आदि की योनि को प्राप्त होते हैं' ऐसा मानना चाहिये'-निश्चय करते हैं कि—

"अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्"

अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहिआदिकों में अनुशयी (अर्थात् 'अनुशय' (कर्म) वाले जीवों का सम्बन्धमात्र होता है ।'

परन्तु आप इस भाष्य के विपरीत 'अनुशयी'का 'अनुशायी' (!) बनाकर, उसका मनमाना अर्थ बताते हैं । जो किसी शास्त्रकार ने नहीं माना—और देखिए, सूत्र में 'अन्याधिष्ठितेषु' पद साफ़ २ बता रहा है कि 'व्रीहिआदि', अन्य जीवों से अधिष्ठित होते हैं

अर्थात् अन्य जीव, व्रीहिआदि के अधिष्ठाता (अभिमानी जीव) होते हैं, जैसे हम अपने अपने शरीर के अधिष्ठाता हैं। अतः आप यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकते कि श्री शङ्कराचार्य्य या श्री व्यास जी महाराज वृक्षों में 'जीव' नहीं मानते थे, प्रत्युत यह बात निर्विवाद है कि वे दोनों ही, अनुकूल होने से वृक्षों में अधिष्ठातृ-(अभिमानी) जीव को मानते हैं।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी—

श्री कणाद महर्षि के मत से हमने श्रुति का गौण अर्थ किया आप उसका खण्डन 'रघुवंश' के प्रमाण से करते हैं—कणाद के सामने कालिदास को क्यों प्रमाण माना जाय? साहित्य के आगे वाले 'आत्मविद्या' को क्या मानें—तथा लोक भी प्रमाण नहीं माना जा सकता—लोक में तो 'फसल मारी गई' ऐसे स्थानों में गौण (उपचार से) प्रयोग होता है अतः लोक में 'मरना' शब्द का प्रयोग वृक्षों के लिए आताहै इस लिए श्रुतिमें भी ठीक है, यह ठीक नहीं।

छान्दोग्योपनिषत् में, यदि यह मान भी लिया जाय कि श्री शङ्कराचार्य्य ने वृक्षों में जीव का होना सिद्ध है तो "अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्" के भाष्य से विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है क्यों कि शङ्कराचार्य्य अशुद्धि (गलती) या विरोध कर सकते थे, वे ऋषि नहीं थे।

'सत्यार्थप्रकाश'-११ पृष्ठ में 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' का अर्थ करते हुए श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज लिखते हैं कि:—

'जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जङ्गम अर्थात् जो चलते फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर, जड़ पदार्थ पृथिवी आदि हैं'—

इत्यादि प्रमाण से यह बात स्पष्ट है कि श्री स्वामी दयानन्द जी स्थावरों को जड़ मानते थे। तथा 'सत्यार्थप्रकाश', २२१ पृष्ठ

में 'कहीं कहीं जड़ को निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है-जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं' इत्यादि प्रकरण में भी जड़ बीज से उत्पन्न वृक्षों को जड़ ही मानते हैं। क्योंकि यहां जड़ पृथिवी और जड़ जल के निमित्त से, जड़ बीज का वृक्षाकार होना लिखते हैं। अतः इन दो प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि वृक्षों में जीव नहीं है। इन कारणों से भी सत्यार्थप्रकाश- २३१ पृष्ठ में से 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है ऐसा प्रतीत होता है। पहले कही गई युक्तियों और इन दो प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण 'वृक्षादि' पदको निकाल डालना चाहिए।

वेदान्तदर्शनभाष्य में पूर्वपक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता आप पूर्वपक्ष पढ़ते हैं-उत्तरपक्ष प्रमाण है।

१७६स्थानों में मिलेगा कि वृक्षों में जीव नहीं है!

श्री० पं० गणपति शर्मा जी-

श्री शङ्कराचार्य के लेख में पूर्वापर-विरोध नहीं हो सकता, जिस मनमाने पाठ के बल पर आप विरोध दिखा रहे हैं-वैसा पाठही कहीं नहीं है, ऐसा विरोध केवल 'वन्ध्यापुत्र' से 'राम' के विरोध के समान है। वेदान्तदर्शन के अवरोहणप्रकरण की स्पष्ट व्याख्या करने पर भी यदि आप नहीं मानते तो इस का क्या किया जाय? और न इस का आप कुछ खण्डन करते हैं। आप कहते हैं कि 'कालिदास तथा मल्लिनाथ का लेख प्रमाण नहीं हो सकता वे आत्मविद्या को क्या जानें'-हम आप से कहते हैं कि आप श्री शङ्कराचार्य का प्रमाण देते हैं वे भी प्रमाण नहीं होने चाहिएँ क्योंकि आर्य्यसमाजिक उन्हें भी तो ऋषि नहीं मानते! यदि आप शङ्कराचार्य के लेख को प्रमाणरूप से पेश करेंगे तो कोई वजह नहीं कि मल्लिनाथ जैसे षड्दर्शन के तत्ववेत्ता को प्रमाण न माना जाय-देखिए वे अपनी 'विद्वत्प्रबुद्धता' के विषय में कैसा अच्छा लिखते हैं—

"वाणी काणभुजीमजीगणदसाधीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त, पस्पशमहीगुप्तेषु चाजागरीत्।
वाचामाकलयद्वहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
सोऽभूद्भुवनेऽपि विद्वदवतां सौजन्यमन्यं यशः॥
अस्मिन्नायकविः सोयमित्यादि.....—॥"

अर्थः—

"जो (अखिलनाथ) कणाद की वाणी (वैशेषिकदर्शन) को जान चुका है और जो व्यास की वाणी (वेदान्तदर्शन) की शिक्षा पा चुका है। 'तन्त्र' शास्त्र (आरण्य, गौहन, उद्घाटन आदि विद्या के प्रतिपादक शास्त्र) में जो रमण कर चुका है। जो श्री० पतञ्जलि के महाभाष्य में आनखक (खबरदार) है अर्थात् जिस को 'महाभाष्यास्त' व्याकरण स्मरण है। जो गोतम के बनाये न्याय-शास्त्र के सम्पूर्ण तत्व को जानता है। विद्वानों के, 'सौजन्य' से उत्पन्न यश का जो उपज्ञाता (ईजादकुनिन्दा) Theorist व्यूरिएट है। वह कवि (शास्त्र) अखिलनाथ इत्यादि'-इस प्रकार गुणगणसमन्वित महा-विद्वान् की बात को यों टाल देना—कि 'ऋषि नहीं-यह नहीं-यह नहीं,' ठीक नहीं! इस आप लोगों की अपेक्षा वह महापण्डित था।

'सत्यार्थ-प्रकाश' पृष्ठ २११ में जीव को जड़ कहा है—न कि वृक्ष को अभिमानीजीव से शून्य। मनुष्य, पशु आदि के शरीर भी तो 'जड़-रजोवीर्य्ये' से ही बनते हैं! अतः मनुष्य भी जड़ हैं, ऐसा नहीं कह सकते—एवं जड़जीव से उत्पन्न वृक्ष चेतनात्मा से अधिष्ठित नहीं हैं, यह नहीं कह सकते।

सत्यार्थप्रकाश—पृष्ठ ११ में स्थावर से जड़ पृथिवी जल आदि लिये गये हैं न कि वृक्ष आदि। क्योंकि 'स्थावर' पद का अर्थ स्थिर रहने वाला' है। अतः वृक्ष स्थिर रहने वाले पृथिवी आदि पञ्चमहा-भूत तथा वृक्ष आदि हैं—इसी कारण से कि यहाँ स्थावर शब्द से वृक्ष आदि का ग्रहण भी लोग न कर लें अतः 'जड़' विशेषण दिया है—अन्यथा पृथिवी आदि जड़ होते ही हैं लिखने की क्या आवश्य-कता थी।

इतने विचार के पश्चात् दो बार श्रीस्वामी जी तथा एक बार श्री० पं० जी बोले । परन्तु कोई नई बात न होने के कारण उन भाषणों के नोट (Notes) यहां नहीं लिये गये । पहली ही बातों को दुहराया गया था । इस प्रकार एक घण्टा के पश्चात् ११ बजे सभा बन्द हुई ॥

(इति मीमांसिकम्)

परिशिष्टांश

बंगलरीपयोगी यह छान्दोग्योपनिषत् तथा वेदान्तदर्शन का प्रकरण सर्वसाधारण के लाभार्थ यहां उद्धृत किया जाता है । वेदान्तदर्शन के प्रकरण का मातृभाषा में अनुवाद भी दिया जाता है । छान्दोग्योपनिषत् का अर्थ प्रायः शास्त्रार्थ में विषद हो चुका है अतः यहां नहीं लिखा गया । वेदान्तसूत्रों पर शारीरकभाष्य के देखने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि श्री० शङ्कराचार्य्य जी महाराज, 'मुक्तों में अलिप्तानी जीव का होना श्रुतिस्मृत्यनुकूल है'- ऐसा मानते हैं । और अनुशयी (शैवकर्मा) जीवों का औपाधि आदि से बोधमात्र होना मानते हैं । प्रतिवादी इस प्रकरणगत 'अनुशयी' पद को 'अनुशायी' (?) बताकर, उसका मन-चाहा अर्थ कल्पना करता है और इस प्रकार चाही को जलते, या प्रमाणाभास से निगृहीत करना चाहता है—परन्तु आगरुक—प्रतिवादिगजघटाभयङ्कर स्वर्णशाखी वादिभूपेन्द्र, प्रतिवादी की एक एक बात को अप्रमाण प्रमाणाभास और युक्त्याभास सिद्ध करता जाता है। हा ! अब ऐसा प्रतिभाशाली वीतराग कहां से पायेंगे ! वह अपनी उपमा आप था ! उस की याद आते ही दिल पर सांप लोट जाते हैं !

(शाँकरभाष्य छान्दोग्योपनिषद् पूर्वार्द्ध वाली पृष्ठ—२७० से ३७२ तक।)

(उपनिषत्)

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्त्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्त्स्रवेत् स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

(शांकरभाष्यम्)

शृणु दृष्टान्तमस्य हे सोम्य ! महतोऽनेकशाखादियुक्तस्य वृक्षस्यास्येत्यग्रतः स्थितं वृक्षं दर्शयन्नाह । यदि यः कश्चिदस्य मूलेऽभ्याहन्यात् परश्वादिना सकृद्घातमात्रेण न शुष्यतीति जीवन्स्रवेव भवति तदा तस्य रसः स्रवेत् । तथा यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्तथा योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्, स एष वृक्ष इदानीं जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रभूतोऽनुव्याप्तः पेपीयमानोऽत्यर्थं जलमनुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन्मोदमानो हर्षं प्राप्नुवंस्तिष्ठति ॥ १ ॥

(उपनिषत्)

अस्य यदेकामग्रशाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥

(भाष्यम्)

तथास्य यदेकां शाखां रोगमूर्छितामाहतां वा जीवो जहात्युपसंहरति शाखायां विप्रकृतमात्मांशम्, अथ सा शुष्यति। वाङ्मनःप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो हि जीव इति तदुपसंहार उपसंह्रियते। जीवेन च प्राणयुक्तेनाश्रितं पीतं च रसात् गतं जीवच्छरीरं वृद्धं वर्धयदृक्षरूपेण जीवस्य सहभावे लिङ्गं भवति । अश्रितपीताभ्यां हि देहे जीवस्तिष्ठति, ते चाश्रितपीते जीवकर्मानुसारिणी इति तस्यैकाङ्गैकदेशनिमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति तदा जीव एकां शाखां जहाति, शाखाया आत्मानमुपसंहरति, अथ तदा सा शाखा शुष्यति । जीवस्थितिनिमित्तो रसो जीवकर्माश्रितो जीवोपसंहारे न तिष्ठति रसापगमे च शाखा शोषमुपैति तथा सर्वं वृक्षमेव यदाऽयं जहाति तदा

सर्वोऽपि क्षुधः शुष्यति । वृक्षस्य रसवत्त्वशोषवत्त्वादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावराः,— इति बीजवत्त्वाद्गतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति ॥ २ ॥

(उपनिषत्)

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत् सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति, भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति षष्ठाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

(भाष्यम्)

यथाऽस्मिन् वृक्षदृष्टान्ते दर्शितं जीवेन युक्तो वृक्षोऽयुक्तो रसपानादियुक्तो जीवतीत्युच्यते तदपेतश्च म्रियत इत्युच्यते । एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच, जीवापेतं जीववियुक्तं वाव किलेदं शरीरं म्रियते न जीवो म्रियत इति कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य मनेदं कार्यमेवमपरिसमाप्तमिति स्मृत्वा सन्तापदर्शनात् । जातमात्राणां च जन्तूनां स्तन्याभिलाषभयादिदर्शनाज्जातीतजन्मान्तरानुभूतस्तन्य (स्य) पानदुःखानुभवस्मृतिर्गम्यते । अग्निहोत्रादीनां च वैदिकानां कर्मणामानर्थक्यप्रसङ्गाच्च जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमेत्यादि समानम् । ....इत्यादि ॥ ३ ॥

(शारीरकम्)

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

'ब्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्, संश्लेषो वा ? जनिर्भवेत् ।
जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥ १ ॥
वैधाच्च पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः ।
स्थावरादौ मुख्यजनौ चरणव्याप्तिः श्रुता ॥ २ ॥'

तस्मिन्नेवावरोहे प्रपञ्चानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५ । १० । ६)-तत्र संशयः—"किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति । किं प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति, कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः । स्थावरमात्रस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः । पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः । तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म । श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वेतिमुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति । एवं व्रीह्यादिजन्मापीति । " एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैराधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति पूर्ववत् । यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम् । एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् ? तद्देवेक्षाप्यभिलापात् । कोऽभिलापस्य तद्भावः ? कर्मव्यापारान्तरेण सहोक्तिरूपः । यथाकाशादिषु प्रपञ्चान्तेषु न किञ्चित्कर्मव्यापारं पराभृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि । तस्माद्भास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिमैनि पराभृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च अपि च मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः । यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन् पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र व्रीह्यादिभावहेतुसिद्धभावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति । एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयात् । उपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थाव

वजानीमहे । भवत्कल्पेषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम् । चन्द्रमसस्त्वयरोहन्तोऽनुक्षयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

यदुक्तं पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुक्षयिणां व्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पमानार्थिकेति तत्परिहियते । न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् । अतीन्द्रियत्वात्तयोः । अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति । तेन शास्त्राहते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति । शास्त्राच्च हिंसानुग्रहात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम् । ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्मं इत्यवगमयति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम् । तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादानिन्द्यमानत्वाच्च । तेन न तस्य मतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम् । न च श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति । तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति । अतश्चन्द्रमण्डललक्षलिताना मनुक्षयिणां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुक्षयिणां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति (छा० ५ । १० । ६) इति । न चात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः संभवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भावो भवति । कथंचिदनुपचरितं तद्भावमवयवानामालुगतोऽनुक्षयी मतिपद्यते । तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्भावस्थानभूतं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्-'तथ इह रमणीयचरणाः' (छा० ५ । १० । ७) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद्व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(आर्यभाषा में अनुवाद)

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

इसी अवरोहप्रकरण में 'प्रवर्षक' (वृष्टि की धाराओं द्वारा भूमि पर गिरने) के पश्चात् छान्दोग्योपनिषत् में लिखा है कि "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते(छा० ५ । १० । ६) इति । अर्थात् वे (अनुशयी='शेषकर्मा' जीव जोकि चंद्रलोक से आकाश--आदि मार्गद्वारा उतर रहे हैं) अनुशयी लोग भूमि पर धान, जौ, ओषधि और वनस्पति, तिल और माष होकर जन्म लेते हैं ।" इस श्रुति पर संशय उत्पन्न होता है कि, क्या इस दशा में अनुशयी (शेषकर्मवाले) जीव, स्थावरों (धान जौ आदि) की जाति=जन्मको प्राप्त होकर, उनको होने वाले सुख और दुःखों के भोगनेवाले होते हैं या अन्य 'क्षेत्रज्ञ' (अभिमानी जीव) से अधिष्ठित-स्थावरशरीरों में सम्बन्ध मात्र को प्राप्त होते हैं ?

(पूर्वपक्ष)

तो क्या मानना चाहिये ? 'स्थावरों की जाति (जन्म या योनि) को प्राप्त होकर स्थावरयोनि के सुख और दुःखों के भागी अनुशयी होते हैं'— ऐसा मानना चाहिए । यह क्यों ? यह इस लिये कि † 'आयन्ते' इस शब्द में जो 'अनिः' धातु है उस का मुख्य

† पुरुष जब किसी शरीर में अभिमानपूर्वक, उस शरीरसम्बन्धी सुखदुख को भोगने के लिए, जन्म लेता है तब कहते हैं कि 'पुरुषो जातः' पुरुषने जन्म लिया--अतः यहां भी मुख्यतया स्थावराभिमानपूर्वक स्थावरसुख दुःखों को भोगने के लिये उत्पन्न होता है ऐसा मानना चाहिए--इति भावः, 'क्षेत्रज्ञ'।

अर्थ ठीक ठीक घट सके । स्थावरभावको जीव प्राप्त होतेहैं, यह ज्ञान × श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है । अतः स्थावर उपभोग का स्थान हैं । पशु हिंसाआदि के योग से दुष्ट [यज्ञ] आदि कर्मों का अतिदुष्टफल भी हो सकता है अतः अनुशयी (क्लेशकर्मी) लोगों का सुखहीन व्रीहिआदिजन्म जानना चाहिए । कुत्ते आदि के जन्म के समान । जैसे कि 'कुत्ते की योनि को, सूअर की योनि को, चाण्डाल की योनि को'—इत्यादि प्रकरण में, मुख्य ही, अनुशयी जीवों का कुत्तेआदि की योनि में होने वाले दुख और दुःखों से युक्त जन्म जाना जाता है । इसी प्रकार व्रीहि आदि का जन्म भी (जानना चाहिए) इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर

"सिद्धांतपक्ष"

कहते हैं कि अन्य (अभिमानी) जीवों से अधिष्ठित व्रीहिआदि में, अनुशयीजीव संसर्गमात्र को प्राप्त होते हैं, उन (व्रीहिआदि) के सुख दुःखों के भागी नहीं होते । पूर्व के समान । जैसे अनुशयी लोगों का वायु, धूमआदिभाव का भाव 'धूमादिसंश्लेषमात्र' होता है, इसी प्रकार व्रीहिआदिभाव भी जातिस्थावरों के साथ सम्बन्धमात्र माना जाता है । यह क्यों ? यह इस लिए कि उसी (पूर्व) के समान यहां भी अभिलाप (कथन) के होने के कारण । उसी के समान यहां का अभिलाप है ? कर्म के व्यापारके विनाही उच्चारण (कथन) जैसे आकाश से लेकर प्रदेश तक, किसी कर्म के व्यापार का वर्णन नहीं है वैसे ही व्रीहिआदिभाव में भी (किसी कर्म के व्यापार का परामर्श नहीं है—'लेखक') । अतः यहां अनुशयीजीव सुखदुःख के भागी नहीं हैं । और जहां सुखदुःख के भागी होने में अभिप्राय होता है वहां (श्रुति) कर्मव्यापार का जिकर कर देती है कि 'रमणीयचरणाः (सुकृतवन्त), कपूयचरणाः (दुष्कृतवन्त) इत्यादि'— (अर्थात् अच्छे आचरणों वाले जीव मनुष्यआदि–योनि को और बुरे आचरणों वाले सूअरआदि–यो-

× 'स्थाणुमन्येऽनुसंयंति' इत्यादिश्रुतिः 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्यादि स्मृति से (इति आनंदगिरिव्याख्या)

नि को प्राप्त होते हैं —'लेखक')। और एक बात यह भी, कि यदि अनुशयी (श्रेष्ठकर्मा) जीवोंका मुख्यही व्रीहिआदिजन्म माना जाय तो व्रीहिआदि के काटे जाने पर, कूटे जाने पर, पकाये जाने पर, और खाये जाने पर, उनके अभिमानी अनुशयी जीव प्रवास करजायं। क्योंकि जो जीव जिस शरीर में अभिमान रखता है, वह उस शरीर के पीड़न किये जाने पर, उस शरीरसे प्रवास कर जाता है-यह बात प्रसिद्ध है। और ऐसी अवस्थामें 'व्रीहिआदिभाव' के अनन्तर 'रेतःसिग्भाव' (श्रुति को) नहीं कहना चाहिए था×[परन्तु कहती है-'लेखक']। अतःअन्य जीवों से अधिष्ठित-व्रीहिआदि में अनुशयी जीवों का संसर्गमात्र होता है। इसी हेतु से 'जनिः' धातु का मुख्यअर्थ भी प्रत्युक्त होगया। तथा स्थावरभाव की उपभोगस्थानता भी (प्रत्युक्त होचुकी-लेखक)। साथ ही एक बात और भी, यह यह कि हम स्थावरभाव की उपभोगस्थानता की अवज्ञा नहीं करते। जो जन्तु कि अपुण्य के सामर्थ्य से स्थावरभाव को प्राप्त हुए हैं, उन का उपभोगस्थान वे [व्रीहिआदि] रहें। हम तो यह कहते हैं कि जो लोग 'अन्नलोक से अवरोहण करने वाले अनुशयी जीव हैं उनके उपभोगस्थान स्थावर नहीं हैं ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

और जो (पूर्वपक्षी ने)यह कहा कि 'जो पशुहिंसा आदि के योग से अशुद्ध यज्ञसम्बन्धी कर्म हैं उन का अनिष्ट फल भी होना चाहिए और वह फल भी यही है कि अनुशयीजीवोंका व्रीहिआदि में मुख्यजन्म हो, अतः गौणी कल्पना ठीक नहीं है'। 'न'—(अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता—लेखक) क्योंकि धर्म और अधर्म के विज्ञान में शास्त्र ही कारण है। 'यह धर्म है, यह अधर्म है'—इस बातको शास्त्र से ही जान

× क्योंकि व्रीहिआदि शरीर में कर्म का उपभोग कर, या व्रीहिआदिके काटने कूटने आदि पर अनुशयीजीव व्रीहि (धान) आदि से प्रवास कर जावेंगे, फिर अन्न के साथ रेतःसिग्भाव को प्राप्त नहीं होसकते, पर श्रुति रेतःसिग्भाव को कहती है अतः वे धानआदि से संसर्गमात्र रखते हैं ऐसा ही ठीक सिद्धांत है।

सकते हैं। क्योंकि धर्म और अधर्म अतीन्द्रियपदार्थ हैं। देश,काल और निमित्त के अनियत होने के कारणसे भी (शास्त्र ही धर्माधर्म के ज्ञान में कारण है) जिस देश, काल और निमित्त में जो 'धर्म' माना जाता है वही अन्य देश, काल और निमित्तमें अधर्म हो जाता है §। अतः शास्त्रके बिना धर्माधर्मविषयक-विज्ञान किसी को नहीं हो सकता। और शास्त्र से, हिंसानुग्रहात्मक ज्योतिष्टोम 'धर्म' है - इस प्रकार निश्चित हुआ हुआ ज्योतिष्टोम अशुद्ध क्यों कर कहा जासकता है। (शंका) 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' -यह शास्त्र ही भूत-(प्राणी) विषयकहिंसा को अधर्म बताता है?—(उत्तर) ठीक है। किंतु वह तो उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) है और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'-यह शास्त्र (उस का) अपवाद है। उत्सर्ग और अपवादशास्त्र + व्यवस्थितविषय वाले होते हैं। अतः ज्योतिष्टोमआदि कर्म विशुद्ध (पवित्र) हैं-क्योंकि शिष्टों द्वारा अनुष्ठीयमान हैं और अनिन्द्यमान हैं। अतः उस (हिंसा) का अतिस्यावररूप विशुद्ध फल नहीं हो सकता और न ही कुत्तेआदि के जन्म के समान व्रीहिआदिजन्म हो सकता है। क्योंकि जैसे वह (कुत्तेआदियोनि में जन्म) कपूयचरणों (बुरे आचरणवालों) का प्रकरण उठा कर कहा गया है उसी के समान यहां तो कोई विशेषप्रकरण है नहीं। अतः चन्द्रमण्डल से स्खलित अनुशयी जीवों का व्रीहिआदि के साथ संश्लेष मात्र 'तद्भाव' से अभिप्रेत है॥ २५॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥२३॥

इस हेतु से भी व्रीहिआदि से संसर्गमात्र 'तद्भाव' से अभिप्रेत है कि जो व्रीहिआदिभाव के पश्चात्, अनुशयीजीवों का 'रेतःसिग्भाव'

§ जैसे शुद्धदेश में, सायं प्रातः काल में, जीवन आदि के निमित्त, किया गया अग्निष्टोमादि कर्म 'धर्म' माना जाता है, और वही अग्निहोत्र आदि कर्म, अशुद्ध देश में, आधी रात के समय, किसी को मारने के निमित्त किया गया 'अधर्म' हो जाता है।

* अर्थात् अपवाद के विषय को छोड़ कर सामान्यशास्त्र की प्रवृत्ति होती है।

दिखाकर स्थावर-योनियों को प्राप्त होता है । यदि मानलें कि जीव अपने बुरे कर्मों के कारण स्थावर- (वृक्ष) भाव को प्राप्त होता है तो स्थावरों को 'कर्मयोनि' या 'भोगयोनि' में नहीं मान सकते। 'कर्मयोनि' इस लिए नहीं कह सकते कि मनुष्ययोनि के अतिरिक्त और कोई कर्मयोनि संसार भर में नहीं है-यह सर्वसम्मत बात है। यद्यपि मनुष्ययोनि में भी भोग होता है, तथापि मनुष्ययोनि कर्मप्रधान होने से 'कर्मयोनि' ही मानी जाती है। भोग तो केवल (कर्म के साधनरूप) शरीर की रक्षा के लिए है। यद्यपि "कुर्वंते कर्म भोगाय कर्म कुर्वन्च भुञ्जते" कर्म भोग के लिए करते हैं और भोग कर्म करने के लिए करते हैं। यह लोकोक्ति है, तथापि यह मनुष्यशरीर भोग की खातिर नहीं मिला, किंतु यह शरीर कर्म करने के लिए ही मिला है-भोग आनुषङ्गिक है-'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यादि श्रुति तथा 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' की प्रतिपादिका गीता का यही तात्पर्य्य है। अतः मनुष्ययोनि से भिन्न वृक्षादिकयोनियों को (अन्युपगमवाद से कहा जा रहा है, 'लेखक') 'कर्मयोनि' में नहीं मान सकते। तथा कर्म के साधन कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों के न होने से भी वृक्षको कर्मयोनि में नहीं मान सकते । एवं भोगयोनि कहने भी वृक्षादिक नहीं हो सकते। क्योंकि भोग का साधन कोई इंद्रिय वृक्षों के पास नहीं है। तथा हर दो (कर्म तथा भोगरूप) योनियों में होने वाले अवस्थाकृत-लक्षण वृक्षों में नहीं घट सकते, क्योंकि हर एक योनि में जीव की (जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप) तीन अवस्थाएं होती हैं। यदि वृक्षों में जीव मान लिया जाय तो बताना चाहिए कि जागरितादि तीनों अवस्थाएं क्योंकर, इनमें घट सकती हैं ? 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरणम्' जिस अवस्था में इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का अनुभव होता है उस अवस्था को 'जागरण' कहते हैं-सो वृक्षों में इन्द्रियों के न होनेसे जागरणाभाव सुतरां सिद्ध है

जब जागरितअवस्था ही नहीं तो 'स्वप्न' अवस्था भी नहीं होसकती–'जागारितसंस्कारजः प्रत्ययः सावयवः स्वप्नः' जागरितअवस्था के संस्कारों से जन्य जो विषयों के सहित प्रतीति (ज्ञान) होती है, उसे 'स्वप्न' कहते हैं । जब 'जागरित' ही नहीं तो बेचारे जीव, स्वप्न क्या देखेंगे ? एवं 'सुषुप्ति' दशा भी वृक्षों में नहीं कह सकते क्योंकि 'सुषुप्ति' जागरित आदि की अपेक्षा से होती है–जहां जागरित आदि अवस्थाएं नहीं होतीं वहां 'सुषुप्ति' भी नहीं हुये सकती । यदि कहो कि वृक्षादि 'समाधि' अवस्था में हैं तो 'समाधि' 'वीतराग' आदि सिद्ध पुरुषों में ही होती है, पशुमनुष्यादि में नहीं होती । अतः वृक्षों में जीवोंकी भी कोई बात पाई ही नहीं जाती, और न कोई ऐसा प्रमाण है कि जीव अपने किसी प्रकार के कर्मों को भोगने के लिए वृक्षों में जन्म लेता है । 'मनुस्मृति' आदि कोई प्रमाण नहीं होसकती । अल्पमुसारिणी ही स्मृति मान्य हुआ करती है । कोई ऐसी श्रुति बतानी चाहिए जिस में यह कहा गया हो कि जीव कर्मों के फलों को भोगने के लिए वृक्षों में जन्म लेता है ।

तथा 'वैशेषिकदर्शन' में स्थावरों को 'भोग्य' अर्थात् 'विषय' कहा है–विषय=भोग्य, 'साधन' अर्थात् 'शरीर' नहीं हो सकते !

वेदान्त-दर्शन में 'अन्याधिष्ठितेषु' सूत्र का अभिप्राय अधिष्ठातृरूप अधिकारीजीव से नहीं है, किन्तु जैसे धान का स्वामी 'अधिष्ठाता' कहलाताहै, मुक्तादि के अधिष्ठाता=स्वामी और लोग होते हैं और उन के वे (वृक्षादि) भोग्य होते हैं, ऐसे ही अन्य जीवों के अधिष्ठित (मकतूबात) व्रीहि आदि में जीवों का सम्बन्धमात्र होता है, अर्थात् वृक्षों में या वृक्षों पर अनुशायी(?)(बसेरा लेने वाले पक्षी, कीट आदि) जो होते हैं–'अधिष्ठातृजीव' नहीं–अतः वृक्षों में [illegible] सिद्ध नहीं हो सकता, और यदि वृक्षों में [illegible] उस दशा में वृक्ष 'चेतन' होंगे–और चेतन (मनुष्यादि) के चेतन (धानआदि) भोग्य हों गे किन्तु ऐसा हो

कहा गया है। 'जो जो पुरुष, (अनुशयी से विशिष्ट) व्रीहि आदि अन्न को खाता है और रेतःसिञ्चन करता है, वह (अनुशयीजीव) रेतःसिग्भाव को प्राप्त हो जाता है" इस श्रुति में, मुख्यतया 'रेतःसिग्भाव' (वीर्य सींचने वाला होना) नहीं हो सकता। (अतः 'रेतःसिक्' पुरुष की सी आकृति को अनुशयी जीव प्राप्त होता है-ऐसा गौणअर्थ करना पड़ता है-'लेखक')। क्योंकि जन्म लेने के बहुत दिन पश्चात् 'रेतःसिक्'(शुक्र सींचने वाला) हो सकता है। अतः जब तक सद्भाव का यहां गौणअर्थ न किया जायगा तब तक कैसे खाये गये अन्न से संश्लिष्ट अनुशयीजीव तद्भाव को प्राप्त माना जायगा। अतः यहां अवश्य 'रेतःसिक्' के साथ 'योग' ही 'रेतःसिग्भाव' से अभिप्राय है। (जब तक कि 'रेतःसिक्' के शरीर में शुक्र से संश्लिष्ट रहता है,। रेतःसेकानन्तर तो रेतःसिक् की सी आकृति को प्राप्त है-इतिभावः-लेखक)। इसी के समान 'व्रीहिआदिभाव' से भी 'व्रीहिआदि से योग' रूप अर्थ से तात्पर्य्य है ॥२५॥

योनेः शरीरम्॥२७॥

रेतःसिग्भाव के पश्चात्, योनिमें शुक्रसेक के अनन्तर गर्भाशय में अनुशयी जीवों को कर्मोपभोग के लिए मुख्यशरीर मिलता है-इस बात को शास्त्र कहता है कि 'जो यहां रमणीयचरण (नेक-चलन) होते हैं-इत्यादि'—इससे भी यह पाया जाता है कि अवरोह में, व्रीहिआदिभाव के समय, उनके शरीरसम्बंधी-दुःख से अनुशयी जीव युक्त नहीं होता। अतः व्रीहिआदि के साथ अनुशयी जीवों का संश्लेषमात्र होता है, न कि मुख्यजन्म-यह बात सिद्ध हुई॥२७॥

[अथोत्तराह्णिकम्]

मध्याह्नोत्तर तीन बज कर १० मिनट पर पुनः विवाद प्रारम्भ हुआ । श्री० पं० गणपति शर्मा जी ने प्रातःकाल के अपने सब प्रमाणों की सङ्गति ठीक की, सभा को भूतपूर्व विवाद का वृत्तान्त संक्षेप से सुनाया । और "अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्–"सूत्र के 'शारीरक' भाष्य का व्याख्यान सुना कर स्वपक्ष का इस प्रकार उपसंहार किया कि श्री शङ्कराचार्य्य जी महाराज वृक्षों में अभिमानी जीव (सुखदुःख का भोक्ता) मानते थे । तदनन्तर श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने अपने भाषण को प्रारम्भ किया ।

——:०(:❀:)०:——

श्री० स्वामी दर्शनानन्द जी—

पण्डित जी ने अथर्ववेद के जो दो मंत्र प्रमाणरूप से वर्णन किये–उनका उत्तर सामान्य तथा विशेष–प्रकाश की व्यवस्था से दे चुका हूं । अर्थात् मैं यह बता चुका हूं कि वहां ओषधी आदि के जीवन से तात्पर्य्य सामान्य जीवन से है । जैसे चांद सूर्य्य आदि पदार्थ परमात्मा की 'हरकसे-इंतजामी' से ही गति (हरकत) करते हैं, ऐसे ही परमात्मा की सामान्य–नियामिकाशक्ति से वृक्षादि प्राण धारण करते हैं, किसी "अभिमानी" जीव की विशेषशक्तिसे नहीं । और कि यह सामान्यगति का आश्रयण प्रकरण के अनुकूल है प्रतिकूल नहीं ।

तथा जिस जिस योनि में जीव की स्थिति मानी जाय, वहां इस बात का विचार अवश्य करना चाहिये कि वह "कर्मयोनि"है या"भोगयोनि"!

उभययोनि–विचार से यह बात स्पष्ट हो सकती है कि इस योनि में जीव हैं या नहीं, क्योंकि जीव अपने शुभाशुभकर्मों के फलोंको भोगने तथा नये कर्मों को करनेके लिए ही शरीरा-

नहीं सकता, क्यों कि चेतन का भोग्य चेतन ही संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता—तथा अन्न (धान आदि) के खाने में हिंसा भी होगी।

"द्वा सुपर्णा···" इत्यादि श्रुति में रूपक है, चेतन जो जीव और परमात्मा हैं उन की समता चेतन पक्षियों से है, जड़प्रकृति की समता 'वृक्ष' से है, अतः 'वृक्ष' भी जड़ हैं— अन्यथा वृक्ष भी समता न होने से 'रूपक' ही ठीक न हो सकेगा। क्यों कि प्रकृति की और किसी धर्मद्वारा वृक्ष के साथ समता नहीं हो सकती। और स्वा० तुलसीराम जी (मेरठनिवासी) ने भी यही अर्थ लिखा है, अतः इस श्रुति से भी यह स्पष्ट हुआ कि वृक्ष 'जड़' हैं। अब श्री १०८ स्वा० दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के (१७४ पृ० में) 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि—' इत्यादि 'मन्त्र के अर्थ में, 'अप्राणियों' के उदाहरणमें वृक्षों को लिखा है—तथाहि:—

'देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं—जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि बढ़ते घटते रहते हैं·····" इत्यादि—

अतः श्री० स्वामी जी महाराज वृक्षों को अप्राणी मानते थे। शेष सत्यार्थप्रकाश का जो प्रकरण आप अपनी ओर से पेश करते हैं उस में 'मिलावट' है, आपने विचार नहीं किया—क्योंकि हम क्रमभङ्गादि का टूटना तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रमाण से विरोध, इत्यादि कारण स्पष्ट कह चुके हैं। अतः आपके प्रमाण-रूप से दिये गये सत्यार्थप्रकाश के प्रकरण में 'वृक्षादि' पद मिलाया गया है, और यही प्रकरण जहां 'ऋग्वेदादिभूमिका' में आया है वहां भी मिलावट है, देखो—ऋग्वेदादिभूमिका पृ० २०५ में-(सं० १९३४ की छपी हुई—लाजरस कम्पनी बनारस का प्रेस)।

'द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च'॥ ६॥ यजु० अ० १९ मं० ४७

इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं ।

' (द्वे सती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलोपभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः । एकः विदुषां प्राणिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्यानाम्) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् ' ..... ' इत्यादि ।

इस भाष्य के हिन्दी अनुवाद में पं० भीमसेन जी ने 'दूसरा नीच गति से पशु, पक्षि कीट पतंग वृक्ष आदि का होना' .....इत्यादि सब मिला दिया है । जिसका मूलभाष्य में नामोनिशान नहीं है। और 'सत्यार्थप्रकाश' तथा यहां, दोनों स्थानों में पं० भीमसेन जी लिखने वाले हैं, संस्कृत श्री स्वामी जी की है । अतः आर्य्यभाषा में उभयत्र पं० भीमसेन जी की की गई मिलावट है । अतएव अमान्य है ॥

श्री पं०गणपति शर्मा जी—

'अथर्ववेद' के दोनों मन्त्रों के विषय में स्वामी जी ने कोई नया उत्तर नहीं दिया, वही पुराना उत्तर है। मन्त्रमें सामान्यप्राणन का कोई प्रकरण नहीं है, क्योंकि इस विषय में भाष्यआदि का कोई प्रकरण नहीं दिया गया, तथा अन्यान्य हेतु,शोभन मन्त्रों के अर्थों के खण्डन में आदप्रवाह में आये उन सब का परिहार कर चुका हूं स्वामी जी को बताना चाहिए कि क्यों मुख्यअर्थ का परित्याग कर गौणअर्थ का आलम्बन किया जाय ?

तथा जहां जहां आप 'योनि' मानते हैं-वहां वहां जागरण आदि दशाओं की सत्ता आवश्यक मानते हैं-यह विचार आप का ठीक नहीं है क्योंकि जागरण अवस्था उस दशा का नाम है जिस दशा में कि जीव को इंद्रियों द्वारा पदार्थों का अनुभव होता है-तो हम आप से पूछते हैं कि जन्म से अंधा, बहरा या मूक (गूंगा) पुरुष अपनीआंख या कान या वाणी से किसी दशामें कोई भी अनुभव या कर्म नहीं करता, अर्थात् उस बहरे या अन्धे मनुष्य के लिए कर्ण या नेत्रकृत-जाग-

रण अवस्था कभी भी नहीं होती, एवं स्वप्न और सुषुप्ति भी तत्तदिन्द्रि-यविषयक नहीं होती, क्योंकि बहरा या अन्धा मनुष्य स्वप्न में कभी भी श्रवण या दर्शन रूप व्यापार नहीं करता, यह अनुभूत है। अतः जब पुरुषों के एक या दो इन्द्रियों के विषय में जागृत आदि अवस्थाओं का अभाव स्पष्ट है तो वृक्षों में भी यदि सब इन्द्रियों के न होने से, समस्त इन्द्रिय-विषयक जागरण आदि का अभाव होगया तो आपको क्या आपत्ति है? जब एक योनि में, एक या दो इन्द्रिय विषयक जागरण आदि अवस्थाओं के न होने पर भी, आपको, वहाँ जीव की सत्ता से इन्कार नहीं, तो यदि किसी योनि में समस्त इन्द्रियों के न होने से, सकल इन्द्रिय विषयक जागरण आदि का अभाव होजाय तो वहां भी आपको जीव की सत्ता से मुन्किर नहीं होना चाहिये? उस अभाव से आप क्योंकर वृक्षों में जीवाभाव सिद्ध कर सकते हैं? यदि एक स्थान में आप जागरण आदि के अभाव को जीवाभाव का हेतु (व्यतिरेकी) मानेंगे तो आपको अन्यत्र (मनुष्य आदि योनि में) भी (कतिपय-इन्द्रियाभाव हेतुक) जागरण आदि के अभाव से, उतने अंश में जीवाभाव अवश्य मानना पड़ेगा—ऐसी दशा में आपका 'जीव, विकल हो जायगा? अतएव 'अनित्य, भी आपको मानना पड़ेगा।

यदि आप यह कहें कि "जीव के सुखदुःख भोगने के साधन इन्द्रिय ही तो हैं, जहां जीव के साथ ये इन्द्रिय ही नहीं हैं वहां सुख दुःख का भोग नहीं हो सकता, जहां सुख दुःख का भोग ही नहीं हो सकता, वहां जन्म लेकर जीव करेगा क्या"!

सो इसके उत्तर में निवेदन है कि आपका यह विचार ठीकनहीं, आप यह समझे बैठे हैं कि 'जीवात्मा इन्द्रियों के बिना सुख दुःख नहीं भोग सकता,—किन्तु यह ख्याल ठीक नहीं है—क्योंकि जीवात्मा स्वप्न दशा में इन्द्रियआदि सब प्रकार की सामग्री के अभावमें भी उसी प्रकार सुखदुःख का अनुभव करता है, जिस प्रकार कि जागृत काल में इन्द्रियआदि सब सामग्री की उपस्थिति में। जागरण काल में होने वाली स्वप्नविषयिका

स्मृति, इस बात की साक्षिका है एवं 'सुषुप्ति,काल में समस्त इन्द्रियों का अभाव होता है, उस दशा में महापातकी से लेकर महापुण्यात्मा तक महामूढ़ से लेकर महाश्रोत्रिय तक, महादरिद्र से चक्रवर्ति सम्राट तक, बच्चे से बूढ़े तक, कीट पतंगआदि से तत्ववेत्ता महर्षि तक सब एकाकार वृत्ति में, एकसी दशा में होजाते हैं, और उस दशा के विषय में सबका यह (स्मृति रूप) अनुभव है कि:—

'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति'—

मैं सुख पूर्वक सोया और मुझे कुछ सुध नहीं रही सो महराज ? सुषुप्ति काल में सकल इन्द्रियों के अभाव में भी जैसे जीवात्मा सुख आदि को अनुभव कर लेता है इसी प्रकार तमाम इन्द्रियों के न होने पर वृक्ष भी सुख दुःख आदि को अनुभव कर सकते हैं। अतएव श्री मनु महाराज वृक्षों को 'अन्तःसंज्ञ, कहते हैं, अतः यह कहना कि 'इन्द्रिय आदि के न होने से तथा जागृत आदि के न होने से वृक्षों में जीव नहीं है, यह बात नितान्त असार है।

और सुनिए, आप यह कहते हैं कि "जागृत् स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप वेद की तीन अवस्थाएं होती हैं." पर आपका यह कहना भी ठीक नहीं है इन अवस्थाओं के अतिरिक्त, जीव की 'मूर्च्छा' नामिका दशा भी देखी जाती है मूर्च्छा को जागरित दशा में नहीं मान सकते क्यों कि जागरण काल के समान मूर्च्छावस्था में इन्द्रियों से विषयों का कोई अनुभव नहीं होता मूर्छित मनुष्य जब होश में आता है तोकहता हैमैं'इतने समय तक अन्धकारमेंअर्थात् बिलकुल अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ था मुझे कुछ सुधबुधन थी तथा जागरण काल में मनुष्य अपने शरीर को थामे रहता हैंकिन्तु मूर्छित महाशय का देह भूमि पर धम से गिर पडता हैं अतः जागरण दशा म ही मनुष्य की मूर्छावस्था को मानना ठीक नही हैं एवं स्वप्न में भी 'मूर्च्छा, दशा को नहीं मान सकते। तथा सुषुप्ति अवस्था में भी मूर्च्छा को नहीं मान सकते क्योंकि सुषुप्त तथा मूर्च्छित मनुष्य में बहुत भेद है 'कारण भेद,-सुषुप्तिअवस्था थकान से पैदा होती है, मूर्च्छा प्रबल आघात य

विषादि से उत्पन्न होती है। 'फलभेद,—"सोने से थकान दूर होतीहै" शरीर प्रकृतिस्थ होजाता है। मूर्च्छा शरीर पात के लिए है-यद्यपि मूर्च्छा से अवश्य ही मृत्यु नहीं होजाती तथापि बिना मूर्च्छा के मृत्यु नहीं होती मृत्युकाल में मूर्च्छा अवश्य आजाती है अर्थात् मूर्च्छा मृत्यु का द्वार है।

स्व प. भेद—सोया हुआ पुरुष लगातार एकसे स्वांस लेताहै, उसका मुख प्रसन्न होता है; आंखें बन्द रहती हैं; हाथ से छूने या बुलाने मात्र से उठ बैठता है, होश में आजाता है। परन्तु मूर्छित पुरुष मूर्च्छावस्था में एकसे सांस नहीं लेता; कभी उसका सांस बिलकुल बन्द होजाता है। कभी वेग से चलने लगता है कभी धीरे धीरे। आंखों को फाड़े रखता है या फटी हुई रहती हैं। कभी कभी शरीर में कंप कंपी होने लगती है रोंगटे खड़े होजाते हैं। मुख पीला (फक़) पड़ जाता है तथा अनेक भयानक लक्षण दिखाई देते रहते हैं, उसको चाहे सोटों से पीटो तो भी नहीं उठता होश में नहीं आता। सोये हुये पुरुष को उठाने के लिये कोई भी वैद्य के पास भागा नहीं जाता, मूर्छित के लिये तो वैद्य को बुलाये बिना कल नहीं पड़ती इत्यादि अनेक कारणों से सुषुप्ति अवस्था में भी मूर्च्छा को नहीं मान सकते। अतः "मूर्च्छा,, एक स्वतन्त्र अवस्था है जो 'आयुर्वेद; में प्रसिद्ध है।समस्त जगत् में प्रख्यात है। सो महाराज? मूर्च्छित दशा में जीव के साथ कोई भी इन्द्रिय नहीं होती और मूर्च्छित पुरुष अपनी मूर्च्छा अवस्था से छूट कर कहता है कि:—

"अन्धेतमस्यहमेतावन्तं कालं भक्षिप्तोऽभूवं न किञ्चिन्मया। वेतितम्,—दुःखमस्वाप्सं, गुरूणि मे गात्राणि, भ्रमत्यनवः स्थितं मे मनः..... इत्यादि,,

यह अनुभव बिना इन्द्रियों के कैसे होगया? अतः स्वप्न, सुषुप्ति तथा मुग्धावस्था में जैसे बिना इन्द्रिय आदि के सुख दुःख का अनुभव होजाता है इसी प्रकार 'बृक्ष भी इन्द्रियों के बिना सुख दुःख आदि को भोग सकते हैं। अतएव मनु महाराज साफ़ लिखते हैं। कि:—

"अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः,,

यदि कहा जाय कि वृक्षयोनि बुरे कर्मो का फल होने से सुषुप्ति के सदृश क्यों हुई ? सुषुप्ति में तो सुख होता है बुरे कर्मों का फल तो सर्वथा दुःख रूप होना चाहिए ? तो हम आप से पूछते हैं पापी को निन्द्रा क्यों आती है ? निन्द्रा में सुख होताहै-पापी उसका भागी क्योंकर हुआ? सा जैसे पापी को निन्द्रा में भगवान् करुणैकसिन्धु सुख देते हैं ऐसे ही वृक्षों का परमात्मा यदि सुख देते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? एवं प्रलयकाल में पापी को दुखाभाव क्यों होता है ?

"अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्,,—

सूत्र पर के शारीरिक भाष्य को आपने अपने पक्ष की पुष्टि में धरा था वह उलटा आपके लिए हानिकर हुआ ? अब आप कोई अन्य उपाय न पाकर सूत्र के मनमाने अर्थ करने लगे, और 'अधिष्ठित, पद से वाग् के अधिष्ठाता की सूझी पर आप की यह तर्कना केवल असम्बद्ध है ? अच्छी बात ? चलिए ! हां क्या कहा चेतन का चेतन, भोग्य या 'भोक्ता, नहीं होसकता ! भला क्यों ! लोक में नज़र नहीं आता ! वाह इतनी बात थी! आइए हम आप को दिखाते हैं

"मनुष्य का भोग्य बैल आदि होते हैं-अर्थात् मनुष्य उनसे काम लेते हैं। "विशोऽन्नंराज्ञाम्. नाय्यो भोग्याः पुंसाम्-ते च तासाम्" वैश्य या प्रजा के लोग राजाओं का भोग्य होते हैं। यहबात लोक में आबाल गोपाल अजाविपाल (पर्य्यंत) प्रसिद्ध है । अतः 'विषय. पद से जड़ ही भोग्य मानें जायंगे यह कुछ नहीं ! 'अन्याधिष्ठितेषु सूत्र का प्रामाणिक अर्थ किसी आचार्य्य आदि का किया हुआ लाइए-आप अपना अर्थ प्रमाणतया पेश नहीं कर सकते ।

'द्वासुपर्णा. मन्त्र में 'वृक्ष. का प्रकृति के साथ जोड़ तोड़ लगाकर. 'जड़ता की समता. के बल पर आप ललकारते हैं कि 'रूपक. नहीं बन सकता ! पर महाशय ? तभी तो. जब आप मनमानी करते हैं. आचार्य्यों

के अर्थ से अकारण वैर ! उस पर 'रूपक. बन नहीं सकता ! ! सबर कीजिए. बन जायगा पहले ठीक अर्थ सुनिये अलङ्कार भी होजायगा !

'द्वा सुपर्णा,का अर्थ है कि जैसे दो पक्षी पेड़ पर बैठे हों, एक फल खाता हो और दूसरा केवल उसे देखता हो, ऐसे ही (पक्षिस्थानीय) जीव और परमात्मा, 'वृक्षस्थानीय, देहपर बैठे हैं और 'जीव, देह में होने वाल (फलस्थानीय) सुख दुःख को (खाताहै) भोगता है और परमात्मा केवल द्रष्टामात्र है-इत्यादि।

सो जैसे पक्षियों का आधार 'वृक्ष, होता है और उसके फल भोग्य होते हैं वैसे ही जीवात्मा तथा परमात्मा का आधार रूप 'देह, है-यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापी और स्वमहिम प्रतिष्ठित है, वह किसी के आधार पर नहीं रहता, तथापि यह शरीर परमात्मा का उपलब्धिस्थान है, इस में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं अतः कल्पित-गौण आधाराधेयत्व भाव देह तथा परमात्मा का मान कर, श्रुति देह को परमात्मा का आधार कहती है। एवं जीवात्मा शरीर में आत्माभिनिवेशताके कारण सुख दुःख का भोक्ताहैही। अतः उपमान और उपमेय का परस्पर आधाराधेयभावात्मक सम्बन्ध मानकर श्लिष्ट एकता सुतरां उपपन्न है। और आप प्रातः काल के अपने तृतीय भाषण में द्वासुपर्णेत्यादि श्रुति में 'वृक्ष, शब्द का अर्थ शरीर मान भी चुके हैं, पर अब अपने कथन के प्रतिकूल, आप वृक्ष के मुकाबिल असम्बद्ध 'प्रकृति, को लाते हैं। और जड़चेतन की जुगल जोड़ी आमने सामने बिठाने का यत्न करते हैं। इसी प्रकार यदि आप समस्त धर्मों को मिलाने का प्रयत्न करेंगे तो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक, उपमानोपमेय भाव का सर्वथा विलोप होजायगा अतः जैसे 'वृक्ष, पक्षियों का आधार है वैसे ही जीवात्मा तथा परमात्मा का आधार 'देह, है-'आधारता, की अपेक्षा से रूपकालङ्कार ठीक होसकता है यह बात वर्णन करचुका हूं और आपको भी, प्रकृति (वृक्षस्थानीया)मानकर यह 'आधारता, अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी इस लिए 'आधारता, परही सन्तोष करना ठीक है-यदि आप आगे 'जड़ता, आदि धर्मों को मिलाने लगेंगे-तो हम

'शाखा, 'पत्ते, फूल जड़े तथा परिमाण आदि जो कुछ भी छक्ष में दिखाई देगा प्रकृति के साथ मिलाना आरम्भ करेंगे–और उधर पक्षियों के पंख, चोंच, पञ्जे अण्डे बच्चे घोंसला, जीवादि के साथ सब मिलाने पर बाध्य करेंगे पर आप नहीं मिला सकेंगे–अतः 'आधारता, पर ही सबर करना ठीकहै-अन्यथा बताइए!समान प्रकरणकी*"ऋतंपिबन्तौ,,श्रुतिके,'गुहां प्रविष्टौ,में 'गुहा पद से प्रकृति की क्या समता होगी ? अतः शास्त्रके स्वकपोलकल्पित अर्थों को छोड़ कर किसी प्रामाणिक अर्थ के बल पर बात कहिए–आप अपना ही अर्थ प्रमाणतया पेश नहीं करसकते। अतः 'प्रकृति जड़ है अतः 'वृक्ष, भी जड़ हैं, यह बात सर्वथा निराधारहै असमञ्जस है।

एवं; जो प्रकरण हमने छान्दोग्योपनिषत् का पेश किया उस का कोई उत्तर नहीं दियागया ।

तथा 'परिभाषेन्दु शेखर, की "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति,,–३४ वीं परिभाषा के व्याख्यान में श्री नागोजी भट्ट लिखते हैं–

"तिष्यपुनर्वस्वोरितिसूत्रस्थं बहुवचनस्येतिग्रहणमस्या ज्ञापकं तर्द्धादं तिष्यपुनर्वास्वित्यत्र तदव्यावृत्यर्थम्, नचैवमप्यत्र जातिरप्राणिनामिति नित्यैकवद्भावेन बहुवचनाभावादिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् । आपोमयः प्राण इति श्रुतेराद्भिर्विना ग्लायमानप्राणानामेव प्राणित्वात्--स्पष्टञ्चेदं तिष्यपुनर्वस्वोरिति सूत्रे भाष्ये,,॥

---

*ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे पराधे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः,

ऋतं, अवश्यं भावि कर्म फल , पिबन्तौ भुञ्जानौ , सुकृतस्य कर्मणो , लोके कार्यदेहे परस्य ब्रह्मणऽर्धं स्थान महतीति पराधं हृदयं परमं श्रेष्ठं तस्मिन्या गुहा तमो रूपा बुद्धिरूपा वा तां छायां प्रविष्टौ स्थितौ छायातपवत् मिथो संबद्धौ तौच ब्रह्म विदः कर्मिणः वदन्ति। त्रिर्नाचिकेतो ऽग्निचितो यैस्ते त्रिणाचिकेता : ते वदन्ती त्यर्थः । नाचिकेत वाक्यानामध्ययनं तदर्थं ज्ञानं तदनुष्ठानं चेति त्रित्वंबोध्यम् ।

इस परिभाषा में श्रीमन्महामहोपाध्याय श्रीनागोंजी भट्ट आपोमयः प्राणः इस श्रुति का प्रमाण देकर 'प्राण, का लक्षण करते हैं कि "अद्भिर्विना ग्लायमानत्वं प्राणत्वम्,, जो जल के विना मुर्झा जाय या नष्ट हो जांय उन्हें प्राण कहते हैं सो वृक्षों को यदि जल न मिले तो सूख जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं अतः वे प्राणी हैं। प्राण विना जीव के नहीं रहसकते "अथैनं क्रामन्तं सर्वे प्राण उत्क्रामन्ति,, और 'नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्,, तथा जानपदकुंड इत्यादि सूत्रस्थ 'नील शब्दपर प्राणिति च वार्तिक में मुखनासासञ्चारी वायु को प्राण माना है अतः तिष्यपुनर्वस्वोरित्यादि सूत्र से विरोध नहीं है अब यह बात सिद्ध हुई कि श्रीमन्महामुनि श्रीपतञ्जलि जी महाराज भी वृक्षों में अभिमानी जीव को मानते हैं।

सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के विषय में आप जो जो कल्पनाएं करते रहे ह उनका एक एक करके खण्डन कर चुका हूं आप उसका कुछ परिहार नहीं करते–अतः स्वामी जी ! श्री स्वामी जीके लेख से वृक्षों में अभिमानी जीव का अभाव आप किसी प्रकार सिद्धनहीं कर सकते "द्वे सृति" मन्त्र के प्रकरण को लेकर, जो आप पं०भीमसेनजी की कीगई मिलावट बता रहे ह–इस में क्या प्रमाण है कि पं०भीमसेन ने मिलावट कीहै ? ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ लेख है वह अक्षरशः स्वामी का है, चाहे संस्कृतहो या आर्य्यभाषा हो। जब उनके नाम पर सब किताबें छपती हैं तो क्योंकर मानलिया जाय कि मिलावट है ? जो श्री स्वामी दयानन्दमहर्षि तमाम अवैदिक मतोंके जाल का समूलोच्छेदन करने वालेथे वे अपने रचित पुस्तकों में इतने गाफिल थे कि लेखक लोग जो चाहें मिलादें या निकाल दें,–इस बात को कौन बुद्धिमान् मनुष्य मान लेगा–संस्कृत तथा आर्य भाषामें श्री स्वामी जी ही भाष्यकर्ताहैं–आवश्यक नहीं है कि जो अक्षर संस्कृत में लिखें वही हूबहू भाषा में लिखें–वे किसी स्थल में विशेष व्याख्यान की अपेक्षासे अधिक भी लिख सकते हैं तथा संस्कृत और आर्य भाषा के लेखक्रम के भिन्न भिन्न होने से नये ढंग पर भी बात-लिखनी पड़ती है। हां, जो आप पर-

स्पर विरोध दिखाते हैं उस सब का परिहार कर चुका हूं—उसका प्रतिपरिहार आपके पास कुछ नहीं है। अतः ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ प्रकाश के विवाद प्रसाद को किसी नई तर्क भूमिका पर अवतरने—बार बार वही बात आपके पक्ष को थोथा किये जा रही है।

—○:०:○—

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

"अब के भाषण में भी सत्यार्थ प्रकाश तथा भूमिका के विषय मे कोई नई बात नहीं कही गई—उसी पुरानी बातको कहा, केवल 'पूर्व तुनोक्तं अधुनापिनोक्तम्' —वाली बात थी।" (लेखक)

'द्वासुपर्णा, मन्त्र में 'जीव—ब्रह्म, दो पक्षियोंके समान हैं—क्योंकि चेतनता रूप समान धर्म से पक्षी तथा जीव ब्रह्मयुक्त हैं—उधर वृक्ष तथा प्रकृति के जड़ होने से समता है अतः 'वृक्ष, जड़ है। क्योंकि वेद 'पुनरुक्ति, आदि दोषों से रहित है यदि यहां वृक्ष को जड़ न मानेंगे तो 'प्रकृति, से समता न हो सकेगी अतः 'जाति, दोष वेद में आयगा—उसकी निवृत्ति के लिए वृक्षों को जड़ मानना चाहिये यह बात युक्तियुक्त भी है अन्यथा चेतनताकी प्रतीति के न होनेपर भी यदि आप वृक्षोंमें जीव मानेंगे तो मेघ आदि वस्तुओं में भी 'जीव, मानना पड़ेगा।

"मूर्च्छा नाम मनसो विचलितावस्था,,—मनकी विचलितावस्थाकानाम मूर्च्छा है—वृक्षो में मूर्च्छा नहीं है—क्योंकि मूर्च्छा जागरण आदि अपेक्षासे होती है—जब जागरण आदि अवस्थाएं ही वृक्षों में नहीं तो "मूर्च्छा भी नहीं हो सकती। जाग्रत् अवस्था से पृथक् मूर्च्छा कोई अवस्था नहीं है यदि "मूर्च्छा" पृथक् कोई अवस्था होती तो जागरणादि के समान सब मनुष्यादिकों में नियमानुसार और प्रायः प्रतिदिन होती—परन्तु ऐसा है नहीं—और वीतराग पुरुषों में तो मूर्च्छा होती ही नहीं—अतः वृक्षों में जब योनिही नहीं तोमूर्च्छा कैसे हो सकती है? अतएव "मन की विचलितावस्था रूप—मूर्च्छा भी वृक्षों में नहीं हो सकती।

जाते हैं। अतः आप के मतानुसार भोक्ता और भोग्य की व्यवस्था नहीं हो सकती।

शेष रहा कि यदि वृक्षों में जीव है तो उनके काटने से हिंसा होगी—यह ठीक नहीं क्योंकि "बाधनालक्षणो धर्मो हिंसा,, होती है—वृक्षों को काटने से बाधा (पीड़ा) नहीं होती यह बात प्रत्यक्ष है देखो! अंगुली के कटने से सारे शरीर में दुःख होता है और अंगुली कटकर सूख जाती है अर्थात् जीते हुए शरीर से सम्बन्ध रखते समय जो बात अंगुली में होती है वह कटने पर नहीं रहती किन्तु कली (कोरक = शिगूफा) को उण्डी से तोड़ कर अलग धरदो सायंकाल की तोड़ी हुई प्रातः तक खिल जायगी तथा पेड़ में कोई पीड़ा आदि की प्रतीति भी नहीं होती। यदि पीड़ा होती तो अन्य शाखाओं पर भी फूल न खिलते अतः कटने पर वृक्षों में दुःख नहीं होता—दुःखाभाव से तात्पर्य वृक्षरूपी—शरीर निमित्तक दुःखाभाव से ही है—पूर्व जन्म दुष्कृतकृतमनः सन्तापात्मकक्लेश तो होता ही है अतएव मनुजी ने सुखदुःखसमन्विताः कहा है।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी।

वृक्ष को यदि योनि माना जायगा तो वह बुरे ही कर्मों का फल होगी यदि वृक्षों को उनके शरीर सम्बन्ध से कोई दुःख नहीं होगा तो पाप का फल वृक्षों को दुःख भी न होसकेगा अतः पापका फल दुःख भी अवश्य आपको वृक्षों में मानना चाहिए—ऐसी दशा में वृक्षों को काटने से हिंसा अवश्य होगी।

शास्त्रों से वृक्षों में जीव का बताना 'साध्यसम, है—

न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते—(गौड़पादीय०) आप कहते हैं—'जीव, अविद्योपाध्युपहित है' किन्तु यह ठीक नहीं सब के मत में कार्योपाध्युपहित है। अतः वेदों में कार्योपाध्युपहित जीव माना गया है। अनुमान बिना दृष्टान्त के नहीं हो सकता—"अजाद्यै जायते यस्य [illegible] आन्तरस्तस्य नास्ति वै,—(गौड़पादीय०)। किसी वृक्ष में जीव को पहले [illegible] कर लीजिए—तब शरीर के प्रयाण से सुखदुःख आदि का [illegible]

कीजिय। जीव जैसे जैसे कार्य्य करता है वैसे वैसे शरीर को धारण क-रता है। इस में कोई प्रमाण नहीं कि 'जीव किन्हीं कर्म्मों से वृक्षों में जन्म लेता है। तथा उन में किसी ने आज तक मूर्च्छा नहीं देखी-मत्यक्ष आदि का अभाव इस विषय में स्पष्ट है। मूर्च्छा के होने का काल बताना चाहिए ? रोग में वृद्धि तथा ह्रास भी तो होता है-मूर्च्छित मनुष्य में भी कभी मूर्च्छा बढ़ जाती है कभी घट जाती है-वृक्षों में ऐसा कहा है ? वृक्षों में मूर्च्छा की वृद्धि तथा न्यूनता में कोई प्रमाण देना चाहिए। 'संखिया, मनुष्य को नहीं मारता किन्तु 'संखिया, का खाना मारता है-वृक्ष नहीं मारता किन्तु वृक्ष से गिरना मारता है अतः 'जड़, भोक्ता नहीं हो सकता, भोग योनि के लिए नियम चाहिए।

'मूर्च्छा, कोई पृथक् दशा नहीं है-"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमा-नेऽपि तत्तथा,,-(गौड़पादीय०) जिस वस्तु का आदि और अन्त नहीं होता वह वर्त्तमान में भी नहीं होती-'मूर्च्छा, अपने काल से पहले न थी-किन्तु जागरणावस्था थी, स्वकाल के पश्चात् भी नहीं होती प्रत्युत जागरण अवस्था ही होती है अतः आद्यन्त में जागरणावस्था के होने से मध्य में भी 'जागरण, अवस्था ही थी शेष रही यह शङ्का कि यदि मध्य में भी 'जागरण, ही है तो अब के समान मूर्च्छा में ज्ञान (इन्द्रियजन्य) क्यों नहीं होता ? सो साफ़ ज़ाहिरहै कि मन की 'चञ्चलता, में ज्ञान नहीं हो सकता मूर्च्छा में भी मन चञ्चल होता है अतः एव ज्ञानाभाव है यह नहीं कि जागरणाभाव के कारण आत्माभाव हो गया ! क्योंकि ऐसा प्रायः होता है कि जिस काल में मन पर कोई आभास नहीं होता तो 'मूर्च्छा, हो जाती है शास्त्रों में 'मूर्च्छा, कोई अलग अवस्था नहीं मानी गई। आयुर्वैधक में अवस्था नहीं मानी है-'रोग, माना गया है।

तथा वृक्षों में आत्म जन्य की मूर्च्छा पक्षते हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि जन्म काल में हरएक प्राणी जगता हुआ पैदा होता है-सोता हुआ या मूर्च्छित या अन्य दशा में कभी कोई पैदा नहीं होता। यह जन

सुस्पष्ट है फिर दृष्टान्ताभाव में आप 'अन्तः संज्ञ' कैसे कह सकते हैं? पहले युक्तिद्वारा वृक्षों में जीव की सत्ता सिद्ध करलो-तदनन्तर मनुस्मृति से 'अन्तः संज्ञत्व' परभी विचार हो लेगा-अन्यथा मनुस्मृति आदि साध्यसम होने से किञ्चित्कर होंगे। और संसार में वृक्षों में जीव के साथ व्याप्तिग्रह न होने से जीवाभाव सर्वसाधरण में प्रख्यात है। अतः वृक्षों में कोई जीव जात्र नहीं है! और असहाया मनुस्मृति कैसे प्रमाण मान ली जाय? क्योंकि वेदमूलकस्मृति ही प्रमाण हुआ करती है। स्मृतियों में मिलावट हो सकती है।

श्री० पं० गणपति शर्मा जी।

जिस प्रकार मनुष्यों में बाह्यबुद्धि होती है अर्थात् बाहर की ओर इन्द्रियों के व्यापार से प्रत्यक्षादि का ग्रहण जैसे मनुष्य आदि करते हैं वैसे वृक्षों में नहीं किन्तु वृक्ष अन्तःकरण से सुख दुःख को अनुभव करते हैं अतः अन्तःसंज्ञ हैं-यह मनुस्मृति निर्मूल नहीं है अथर्व वेद के दोमन्त्र तथा छान्दोग्योपनिषत् से वृक्षों में जीव का होना सिद्ध कर चुका हूं-तथा अन्तसंज्ञता वेदानुकूल होने से (परतः) प्रमाण है इस बात को श्रीस्वा० दयानन्द सरस्वती जी महाराज भी मानते हैं-फिर भी आप युक्ति से सिद्ध हो तो शास्त्र को मानेंगे नहीं तो शास्त्र साध्यसम ही रहेगा-इसके क्या मानी ऐसा मानने से वेदादिशास्त्र प्रत्यक्षानुमानादि के अधीन होने के कारण स्वतः प्रमाण न रहेंगे। वेद विरुद्ध आपका तर्क कुछ नहीं कर सकता अतः वेदानुकूल तर्क हम कर रहे हैं-आपको वह माननीय होना चाहिए।

अन्तःकरणोपाधि से कार्योपाधि अभिप्रेत है। तथा प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व होने का नियम नहीं है। इन्द्रियाभाव में परमात्मा को ज्ञान कैसे होजाता है! -तथा बेटे के जन्म की खुशी किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है-पर प्रत्यक्ष अनुभूत है और सब किसी को होती है अंधेरे के प्रत्यक्ष बिना इन्द्रियों के कैसे हो जाता है! अंधेरा भाव रूपनहीं-क्योंकि प्रकाश के आने पर नहीं रहता-अभाव रूप नहीं-क्योंकि प्रतीत होता है,-फिर

आंख के अंधी होने के कारण अंधकार कैसे प्रत्यक्ष हो जाता है ?-तथा भारीपन किस इन्द्रिय से ग्रहण होता है। भारीपने को सभी अनुभव करते हैं अतः बिना इन्द्रियों के भी अनुभव हो सकता है-

एवं भोक्ता भोग्यादि की भी कोई व्यवस्था नहीं है यह बात पहले स्पष्ट कह चुका हूं।

मूर्च्छा को जागरणावस्था नहीं मान सकते—"आदावन्ते च,,० इत्यादि सृष्टि के सम्बन्ध की बात है, यदि यही नियम है, तो सुषुप्ति भी जागरण है-क्योंकि सुषुप्ति के आदि और अन्तमें जागरण होता है-तो मध्य मे भी जागरण होना चाहिये-एवं जागरण भी सुषुप्ति होना चाहिए-यह क्या बात हुई ? सृष्टि से पूर्व भी प्रलय था-अन्त को भी प्रलय होगा, अतः अब भी प्रलय है ? इसे कौन मान लेगा।

तथा मूर्च्छाकाल में मन विचल नहीं होता-इसे सब जानतेहैं। प्रत्युत सुषुप्ति के समान विशेष बाह्य पदार्थों का ज्ञानाभाव होता है।"क्लोराफार्म,, से मूर्च्छित कर तजुरबा किया जा सकता है-अतः मूर्च्छामें मन की चञ्चलता के विषय में कोई प्रमाण नहीं है-स्वतन्त्र तथा उच्छृंखल तर्कना को छोड़ कर शास्त्रानुकूल तर्क कीजिए-"साध्य समवेद हैं,, इस बात पर विचार कीजिए-

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज

जब आप वृक्षों को मूर्छित मानते हैं और मूर्च्छा दशा में ज्ञान का अभाव मानते हैं-तो वृक्षों को भी ज्ञान नहीं होना चाहिये-परन्तु आप वृक्षों को "सुख दुःख-समन्वित अन्तःसंज्ञ" मानते हैं-अतः आप के कथन में 'व्याघात दोष है।

किसी वस्तु का प्रत्यक्षादि-अनुभव, अन्तः करण तथा इन्द्रियोंके बिना नहीं हो सकता-अंधेरे काप्रत्यक्ष भी चक्षु से होता है-

'यद्गुणो येनेन्द्रियेण ग्रह्यते तन्निष्ठाजातिस्तदभावश्च तेनैव ग्रह्यते ।

एवं वैशेषिकदर्शन में वृक्षों को 'विषय, अर्थात् भोग्य माना है–भोग्य भोक्ता नहीं हो सकते।

सत्यार्थ प्रकाश में, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'..... मन्त्रके अर्थ में वृक्षों की गणना जड़ों में की है–

'भोग्य' नाम चेतनावसान का है–सो वृक्ष चेतनता के न होने से भोग्य हैं-भोक्ता नहीं हो सकते। भोग्य ही भोक्ता नहीं हो सकता 'आत्माश्रय, दोष होगा- आपही अपने कन्धे पर कोई कैसे बैठ सकता है- और न अपेक्षाकृत होसकते हैं-क्योंकि वृक्षों को भोक्ता मान कर किसी अन्य पुरुष आदि का भोग्य मानने से 'जीवहिंसा, जायज़ माननी पड़ेगी। जहां यह कहा जाता है कि न्यून बुद्धिवाले अधिक बुद्धि वालों के भोग्य होते हैं वहां गौणतया भोग्य में अभिप्राय है क्योंकि सेवा आदि कराते हैं–क्या स्वामी दास को प्रत्यक्षतया ही निगल जाता है ? जैसे कि—

"अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि, हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्रपर्वाणि जातवेदः शृणीहि मे, क्रव्यात क्रविष्णु र्विचिनोतु वृक्णम्, ।

में चिदवसान भोग्य (तथा उपचार प्रायेण) से तात्पर्य यह है क्योंकि 'क्रव्याद' उस अग्नि को कहते हैं जो मुरदे को खा जाता है–अर्थात् जो शव को जला देता है क्योंकि मुख्यतया हमारे समान आग मुरदे को नहीं खाती।

×:०(:)०:×

(श्री० पं० गणपति शर्माजी)

अथर्ववेद के दो मन्त्र तथा छान्दोग्योपनिषत् के प्रमाण से यह बात कह चुका हूं कि वृक्षों में जीव है। 'द्वासुपर्णा,–इत्यादि श्रुति के यदि आप प्रामाणिक अर्थ नहीं मानते और स्वकल्पित अर्थों पर ही ज़िद करेंगे तो भी, 'आप का अर्थ ही ठीक है–इसे हम क्यों कर मान लें ? मैं कहता हूं कि यहां "तोता और मैना" रूप दो पक्षियों से अभिप्राय है"–

आप इस का खण्डन कीजिये ? बिना किसी प्रकरण आदि के अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता, आप प्रकरणानुसार अर्थ की सङ्गति ठीक कीजिये और इस अर्थ में हेतु दीजिए—केवल पक्षघोषणासे पक्ष सिद्धि नही हो सकती।

आप कहते हैं कि 'वृक्षों में जीव नहीं है क्योंकि शास्त्र आदि का प्रमाण नहीं है अतः मूर्च्छा भी नहीं हो सकती'—मैं पूंछता हूं—'क्या अथर्ववेद और छान्दोग्य और मनुस्मृति शास्त्र नहीं है ? क्या आप ने इन प्रमाणों का कुछ खण्डन किया ? यदि नहीं तो फिर क्योंकर आप कहते हैं। कि 'शास्त्र का प्रमाण नहीं है'। आप मूर्च्छा के लिये जागरण आदि की अपेक्षा को आवश्यक बतलाते हैं—परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि वृक्षों में जन्म से ही मूर्च्छा है वह एक जन्म रोगके समानहै। तथा 'मूर्च्छा' को आप जागरण अवस्था के अन्दर मानते हैं—अर्थात् जागरण अवस्था से भिन्न विशेष अवस्था उसे नहीं मानते—पर यहभी ठीकनहीं है, क्योंकिजागरण काल में इन्द्रियों से विषयोंका ग्रहण होता है—'मूर्च्छा' में नहीं होता। आप के पक्ष में कोई प्रमाण भी नहीं है—अतः मूर्च्छा का जागरण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

तथा वृक्षों का सजीव होना हम शास्त्र से सिद्ध कर चुके हैं—और मूर्च्छा तो वृक्षोंमें स्पष्ट सी प्रतीत होती है जब अंधे या बहरे पुरुषमें एक या दो इन्द्रिय विषय—जागरणाद्यभाव साफ़ ज़ाहिर हैं और अंधे या बहरे में जीव के न होने या कम होने में आप को कोई शिकायत नहीं होती किन्तु जीव को आप मानते हैं तो फिर वृक्षों में समस्त—इन्द्रियाभाव निमित्तक—जागरणाद्यभाव दशा में क्यों नहीं जीव को मानते ?

यह कोई नियम नहीं है कि भोक्ता चेतनहीहो और भोग्य जड़हीहो। देखिये स्वामी और सेवक दोनों चेतन हैं—पर भोक्ता और भोग्य हैं शेर हरिणों को खाता है यहां भी भोक्ता और भोग्य चेतन हैं। पुरुष अन्न को खाता है यहां भोक्ता चेतन और भोग्य जड़हैं। मर्दुमखोर पेड़ मनुष्यों को खा जाते हैं यहां आपके मत से जड़ वृक्ष भी चेतन मनुष्य को खा

इस नियम से प्रकाशाभाव या तेजोऽभाव रूप अंधेरा आंख से ही ग्रहण होता है-क्योंकि प्रकाश को नेत्र ही ग्रहण करता है।

तथा मूर्छा काल में मन चञ्चल ही होता है, क्योंकि मकान की छत से गिरते समय मन चञ्चल तथा विकल हो जाता है-अतः मूर्च्छा से पहले मन का चञ्चल होना अनुभव सिद्ध है। तथा मूर्च्छा के पश्चात् भी मन की विकलता स्पष्ट है-अतःयह सिद्ध हुआ कि मूर्च्छा काल में भी मन चञ्चल होता है।

यह क्योंकर मानलें कि वृक्ष अन्तःकरणोपाधि से युक्त हैं? इसमें क्या दलील है?-युक्ति के विना किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता-'मद्याजी' गीता का अर्थ युक्ति के विना कैसे निर्णीत हो सकेगा? मूर्छित वृक्ष अन्तः सुखादि को कैसे ग्रहण कर सकेगा-क्योंकि मूर्छा में आप ज्ञानाभाव मानते हैं। यही 'विघात' दोष है।

'हरकते—इरादी, चेतन का धर्म है—यदि वृक्षों में हरकते-इरादी (विशेष गति-इच्छापूर्वक प्रवृत्ति) हो तो वहां चेतन माना जासकता है-परन्तु वृक्षों में केवल 'हरकते-इन्तजामी, (सामान्यगति) ही पाई जाती है-अतः वृक्षों में जीव नहीं है।

(स्वामी जी इतना कहने ही पाये थे कि पास बैठे हुए श्रीमान् महाभाष्याचार्य पं० हरनामदत्त शास्त्री जीने कहा कि 'सामान्य विना विशेष के हो नहीं सकता, स्वामी जी ने झटपट उत्तर दिया कि "प्रलय में होता है,, इतने में परस्पर आग्रह बढ़ने लगा कि श्री प्रधान महोदय ने शास्त्री जी को न बोलने की प्रार्थना की, वे चुप होगये। खूब खिल खिला कर सभा में हंसी हुई!! स्वामी जी ने फिर बोलना प्रारम्भ किया। लेखक,)

एक प्रकार की क्रिया सामान्यकारण की द्योतक है-यह वृक्षों में प्रसिद्ध है-अतः वृक्षों में हरकते-इन्तजामी है; हरकते-इरादी नहीं।

अतएव वृक्ष जड़ हैं-क्योंकि ईश्वर की हरकते-इन्तजामीसे उनके उत्पन्न होने, बढ़ने और फूलफल कर सूख जाने का जैसा नियम बांधा गया

है उसी के अनुसार उनकी अवस्थाएं बदल बदल कर रह जाती है-कोई ऐसी बात वृक्षों में नहीं पाई जाती जिससे यह निर्णय किया जा सके कि वृक्षों में हरकते-इरादी भी है। अतः वृक्ष जड़ हैं। दुःखादि स्वसंवेद्य हैं औरों को क्या खबर कि अमुक पुरुष को दुःख हो रहा है या नहीं जिस तन लागे सोई जाने। यह बात सर्व साधारण में प्रसिद्ध है- अतः 'वृक्षों को सुख दुःख होता है,-इसमें क्या प्रमाण है ?

श्री० पं० गणपति शर्मा जी

यदि मूर्च्छाकाल में, या मनकी चञ्चलता में सुख या दुःख का होना आवश्यक है-तो इसमें अनुभव का आकार आप बताएं मुझसे क्या पूंछते हैं। मैंतो मूर्च्छा में (बाह्य) ज्ञान का अभाव मानता हूं।-ज्ञान आप मानते हैं क्योंकि जागरणावस्था में ही मूर्च्छा का अन्तर्भाव करतेहैं, प्रमाण उलटा मुझसे मांगते हैं-जब आप मूर्च्छा में ज्ञान मानतेहैं तो आपको बताना चाहिये कि मुझे? ऐसा पूंछना आपका "वदतोव्याघात" है और मैं जो मूर्च्छा में ज्ञान का अभाव मानताहूं वह विशेष ज्ञान का अभाव मानता हूं-अर्थात् मूर्च्छित को बाह्येन्द्रियों से होने वाला ज्ञान नहीं होता सामान्यज्ञान तो होता ही है क्योंकि मूर्च्छित पुरुष मूर्च्छा से छूटकर कहता है कि:—

"अन्धे तमस्येतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवम्,न मया किञ्चिच्चेतितम्,,

इत्यादि स्मृति मूर्च्छा काल के अनुभव की साधिका है। ऐसे ही वृक्षों को अनेक जन्म कृत-सुकृत दुष्कृतों के कारण से बहुत सन्ताप तथा सुखलव होता ही रहता है। वृक्ष को शरीर निमित्तक वेदना नहीं होती-यह बात युक्ति पूर्वक मैं पहले कह चुका हूं।

चेतन का लक्षण आप "हरकतेइरादी,, अर्थात् जो करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ हो, करते हैं-किन्तु यह ठीक नहीं है मुक्तावस्था में जीव जड़ है या चेतन यदि जड़ मानोगे तो चेतन का जड होना

असम्भव है–यदि चेतन है तो बताइए उसकी "हरकत इरादी" मक्तावस्था में क्या काम करती है? यदि केवल सुख भोगता है तो सुखको आप स्वसंवेद्य मानते हैं, 'परसंवेद्य, तो सुख आपके मत में हो ही नहीं सकता; फिर क्या दलील है कि मुक्ति में सुख होता है?

हमतो यह मानते हैं कि स्वसंवेद्य भी चेष्टादि से परसंवेद्य होजाता है।

एक पुरुष दूसरे की ज्ञान–इच्छा आदि को जान जाता है–योगी तो दूसरे के मनोगत को दूर से जान जाते हैं–संसार में कोई बात भी केवल परसंवेद्य नहीं रह सकती, जब "तिनके से लेकर ईश्वर तक के ज्ञान से मुक्ति होती है"–तो स्व-पर-संवेद्य का क्या कहना? 'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्'। एक परमात्मा के ज्ञान से जैसे सबका ज्ञान होजाता है ऐसेही परसंवेद्य, स्वसंवेद्य–होजाता है।

वेदविरुद्ध कणाद का प्रमाण कुछ नहीं कर सकता, हमने वेदों के तथा वेदानुकूल अन्यान्य प्रमाण दिये, उनका कुछ उत्तर आपने नहीं दिया।

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥मनु० "

आस्तिकों के यहां वेदशास्त्रविरुद्ध किसी का वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता, शास्त्रविरुद्ध तर्क हम प्रमाण नहीं मानेंगे-"तर्काप्रतिष्ठानात्

भोक्तृ–भोग्य–विषयक-व्यवस्था में जो व्यभिचार हमने दिए थे उनका कुछ उत्तर नहीं है, मूर्च्छाकाल में मैं मनुष्य में दुःख मानता हूं-आपको दुःख नहीं तो सुख ही मानना चाहिए! अन्यथा उभयाभाव में मूर्च्छित मनुष्य जडवत् (पाषाण सा) आपको मानना होगा?

—(:*:०:*:)—

श्री०स्वा०दर्शनानन्द जी—

'परिभाषेन्दु' आदि के प्रमाण ठीक नहीं हैं, क्योंकि नागेश ऋषि नहीं थे। 'शेखर' तो काकभाषा है। छान्दोग्य के प्रमाण में 'वृक्ष' शब्द का अर्थ "शरीर" है 'शाखा' से अभिप्राय 'अवयव' से है-क्योंकि वहां 'म्रियते' पद आया है- 'मरना' शब्द का प्रयोग वृक्षों के लिये नहीं आता। काहि [illegible] नहीं हो सकता "कदयः किन्न ०

ल्पन्ति" ? (इस वाक्य के सुनते ही सभा में हंसी का पूतध्वान हुइ, लखक) लौकिक प्रयोग शास्त्र के अर्थ करने में निर्णायक नहीं होसकते। किसी आर्ष प्रमाण से सिद्ध कीजिए।

'अथर्ववेद' के दोनों मन्त्रों का पं० भीमसेन का किया अर्थ प्रमाण नहीं माना जासकता। किसी ऋषि का भाष्य उन मन्त्रों पर पेश कीजिए तो विचार किया जा सकता है। "भूमिका" तथा "सत्यार्थप्रकाश" में विरोध होगा, यदि वृक्षों में जीव माना जायगा। आपने उस विरोध का कुछ परिहार नहीं किया, श्री कणाद महर्षि के प्रमाण का आपने कुछ समाधान नहीं किया।

जागरण-दशामें अवश्यमेव सुख या दुःख का अनुभव हो, इसबात का नियम नहीं है। क्योंकि जब चित्त सर्वात्मना किसी वस्तु में आसक्त होता है तो उस समय सुख या दुःख कुछ नहीं होता। एवं अत्यन्त चञ्चलता में भी कुछ ज्ञान नहीं होता; "परसंवेद्य" के स्वसंवेद्य होने में भी तो कोई प्रमाण चाहिए! वृक्षों को सुख या दुःख होता है, इस विषय में क्या प्रमाण है ? अतः वृक्षों के मूर्छितावस्था में मानने से अन्तःसंज्ञता या सुखदुःखसमन्वितत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, और इन सब के अभाव में, वृक्ष सजीव हैं यह भी नहीं कह सकते। अतः वृक्षों में अभिमानी जीव का मानना भ्रान्तिमात्र है। तथा ईश्वर मनोरूप इन्द्रिय से जाना जाता है। गुण से गुणी का अनुमान किया जाता है, क्रियासे क्रियावान् का अनुमान किया जाता है अतः सृष्टि के निरीक्षण से जो परमात्मा का अनुमान किया जाता है वह मन से ही तो किया जाता है! अतः ईश्वरादि परसंवेद्य नहीं हैं। संसार में धोका इसीलिए होता है कि मनुष्य परसंवेद्य को नहीं जान सकता, यदि परसंवेद्य; स्वसंवेद्य होजाया करे तो कभी कोई धोका न खा सके। अतः "वृक्षों,, को ज्ञान होता है—यह बात तब तक नहीं मानी जा सकती जबतक कहीं व्याप्तिग्रह न हो। बस वेद स्मृति और युक्ति से किसी प्रकार भी वृक्षों में अभिमानी जीव का होना सिद्ध नहीं हो सकता।

—(:*:०:*:)—

हा विधि ! हमारी शोक-संहिता के नायक ले,
छोड़ा जग, कूच किया उसी 'जगराम' से ॥

(३)

× ज्ञानगुणशील गणपति जी हमारे मित्र,
नागर निवासी " चूरू " नामक नगर के ।
पाराशर गोती विश्वविश्रुत " पारीक " विप्र,
अंगज प्रतापी " भानीराम " वैद्यवर के ॥
दारा और पुत्रका विलोक परलोक-वास,
घूमे अनपत्य पै न पास गये घर के ।
अंक[1] राम[2] जीवन के हायन बिताय हाय,
त्यागे हम साथी बने शंकर अमर के ॥

(४)

माना महाविद्या का महत्त्व ।
मंगल मनाते रहे सिद्धसमुद
तो भी गुरुकुल में पधारे न
पाठकों को पाठ न पढ़ाय स

"जगराम" यह ग्राम स्वा० दर्शनानंदजीका जन्मस्थान और श्रीगणपतिशर्म्माजीका मरणक्षेत्र है, क्या अद्भुत रहस्य है !

श्री गणपतिशर्मा जी 'चूरू' के रहनेवाले पाराशर गोत्रीय श्री पं० भानीराम शर्मा पारीक ब्राह्मण के पुत्र थे, केवल ३६ वर्ष की आयु में आपने शरीर त्याग दिया । हा !

(छोड़)

गणपति-प्रयाण-पञ्चदशी।

(कवित्त-घनाक्षरी)

(१)

आपदा की आगने उबाले शोकसागर में,
हायरे ' अनभ्रवज्रपात' का प्रमाण है।
बेध रहा सैकड़ों वियोगियों की छातियों को,
एक ही वियोगजन्य-वेदना का बाण है॥
काल विकराल ने कुचाल की कृपाण गही,
क्यों न प्रेम-कातर कटेंगे कहां त्राण है!
' शङ्कर, मिलावेगा मिलेंगे परलोक ही में,
प्राणहारी प्यारे गणपति का प्रयाण है॥

(२)

पण्डित प्रतापी, पुण्यशील गणपतिजीने,
' शङ्कर, स्वदेश का सुधार किया काम से।
भारतनिवासियों में कौन परिचित नहीं,
आप के पवित्र यश और नामी नाम से॥
स्वामी+दर्शनोंके सिद्ध, धार'कृपाराम कीसी,
वैदिक बने हैं जन्म पाय जिस ग्राम से।

+ स्वामी दर्शनों के सिद्ध—स्वामी दर्शनानन्द सरस्वतीजी

' धार कृपाराम की सी,—इस वाक्य से " कृपाराम " स्वा० द० जी का पहला नाम निकलता है।

जाती है । वस्तुतः यह ग्रन्थ महाभाष्यान्तःप्रतिपादित परिभाषाओं का एक गुटका है ।

जो नागेशभट्ट, महामुनि पतञ्जलिमहाराजकी उक्ति के विना एक शब्द भी प्रमाण नहीं मानते–उनके ग्रन्थको काकभाषा कहना सज्जनजनविगर्हित है ।फिर आप नियमानुसार जब तक उन की उक्ति का खण्डन नहीं करते केवल काकभाषा कहकर टालनेसे विद्वत्क्षोप आप नहीं करसकते । प्राणी अप्राणी शब्द का निर्णय व्याकरण से ही होगा–'जीव' धातु प्राणनरूप अर्थ में आता है, इस से यह बात स्पष्ट है कि 'प्राण, तथा 'जीव, पर्यायवाची शब्द हैं, तो वेदों में, वृक्षोंमें प्राण का कहना जीव की संज्ञा का निर्णायक होगा,– इत्यादि सब युक्तिपूर्वक कहा जा चुका है–'वृक्ष, शब्द का अर्थः–

"विप्रो वृक्षस्तस्य मूलञ्च संध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥"

इस [वृद्धचाणक्य]के अनुसार सर्वत्र गौण नहीं किया जासकता । नहीं तो 'हास्तुपर्णा' में आपका रूपकालङ्कार न बन सकेगा । अतः प्रकरण आदिकी व्यवस्थासे–लोक,व्याकरण,कोशआदि सब प्रमाण मानना पड़ेगा । मूर्छामें यदि सुख दुःख का अभाव होगा तो आत्मा, पाषाणवत् [जड़] हो जायगा,

[इसप्रकार व्याख्यान के पश्चात् , हाथ जोड़कर बड़े आदरभाव से स्वामीजी महाराज की स्तुति तथा सभा का धन्यवाद कर, श्री पं० जी मौन हुए, और ऐसे मौन हुए कि अब ऐसे शास्त्रार्थ और व्याख्यान स्वप्न होगये !!!

इस के पश्चात् श्री स्वामी दर्शनानन्दजी का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ, जिसके आदिशब्द यह थे–कि "आर्यलोगों का शास्त्रों को न समझना यह साबित करता है कि आर्यलोग स्वाध्याय नहीं करते" ..... इत्यादि,–बड़ एक सारस्वत–महानद था–कि अनेक युक्ति प्रमाणस्थानों की तरंगों से उच्छृङ्खलवेग बहरहाथा । डेढ़घंटातक व्याख्यान देकर स्वामीजी रात्रिकी ११बजे पीछी बेरावलपिंडी को चले गये–क्योंकि गु०कुल पोठोहार का वार्षिकोत्सव था । लेखक ।] इति

स्वामीजी के भाषण के अनन्तर ही एकओर स झटपट यह शब्द सुनाई दिये कि अब 'शास्त्रार्थ, बन्द होजाना चाहिये, बहुत भी रा. सकृत कांगड़ी से यहां लौटकर आई है और स्वामी जी के व्याख्यान को सुनने के लिए समुत्कण्ठितहै, बहुत 'हां हां, नां नां, के कोलाहल के प-श्चात् यह निश्चित हुआ कि अबकी बार पं० गणपति शर्मा जी बोललें उसके पश्चात् (चूंकि भाषण का अन्त्यावसर स्वामी जी का था) यदि स्वामी जी चाहें तो उत्तर देकर अपना व्याख्यान आरम्भ करदें। परन्तु स्वामीजी ने पं० जी के पश्चात् व्याख्यान ही दिया। यह इसलिए नहीं कि उत्तर नहीं देसकते थे, प्रत्युत इसलिए कि व्याख्यान सुनने के लिए लोग बहुत उन्मनस्क हो रहे थे, शास्त्रार्थ को भावी वर्ष पर बड़े समा-रोह से करने के लिए मुलतवी किया। परन्तु शोक कि श्री० पं० जी दागे-मुफ़ारक़त देगये! नहीं तो आगामी वर्ष श्री पं०आर्यमुनिजी आदिके साथ भी उनके शास्त्रार्थ होते, जोकि बड़े मारके के होते। परन्तु शोक कि अब वह तर्कचूड़ामणि व्याख्यानवाचस्पति स्वर्ग में बुध और बृह-स्पति की प्रतिभा-परीक्षणके लिए इस अधम मानवलोक को छोड़कर सिधार गये !! 'लेखक,

श्री० पं० गणपतिशर्मा जी का स्वपक्षोपसंहार।

मेरीओरसे दोमन्त्र अथर्ववेदके, छान्दोग्योपनिषद् [सशङ्कर भाष्य] मनुस्मृति महाभाष्य, तथा ब्राह्मण प्रामाण्योपजीवक श्रीनागशरचित परिभाषेन्दुशे-खर के प्रमाण, वृक्षों में अभिमानी जीव के प्रतिपादक पेश किये गये। एवं सत्यार्थप्रकाश तथा मल्लिनाथ आदि के प्रमाण भी दिये गये। जो सब के सब वेदानुकूल होने के कारण उपादेय हैं। वेदमन्त्रों के अर्थ में जब तक कोई दोष नहीं बताया जाय, तबतक वह हेय नहीं होसकता, सत्यार्थप्रकाश के साथ जो भाष्यभूमिका का विरोधाभास दिखाया गया उसकाभी निरास करदिया गया। प्रमाणसम्बन्धी जोअन्यान्य प्रकरणप्रवाह-पतित आक्षेप हुये, उन सबका संक्षेप विक्षेप पूर्वक यथार्थ परिक्षेप किया गया। परिभाषेन्दुशेखर काकभाषा में नहीं है—हां यदि उस में नवीन न्याय की परिभाषाओं का समावेश कियाजाय तो बेशक काकभाषा हो

ब्रह्मगुण गाय, ब्रह्म-लोक में विराजे जाय,
पाया पद 'शंकर, सकाय से अकाय का।
मुक्त गणपति हुये बन्ध में गणों को बांध,
हाय ह्रास होगा न हमारी हाय हाय का !!

(५)

पादरी बनारसीने खोली पण्डितों की पोल,
राजा को रिझाय डींग हांकी विज्ञपन की।
ऐसा सुन गाजे गणपति जी सभा में जाय,
शैंद शैंद सारी जानकारी 'जानसन' की॥
'शंकर, सवाई काशमीर की बनाई बात;
पाई राजकोश से विदाई मानधन की।
जाते थे दुबारा उसी देशको अकारण क्यों,
छोड़े प्राण पन्थ ही में रोकी रुचि मनकी॥

(६)

मानव-समाज में निरीश्वरता नाचती है,
आधे से अधिक बौद्ध जैन युक्त पौन है।
चूके चारवाक न बृहस्पतिजी गाज रहे,
ऊखे युक्तिवाद भाडलादि का न मौन है॥
एकताका यूथ सीखा सोऽहमस्मि शंकर से;
भेदका विलास भी कुभावना का भौन है।
स्वामी दयानन्द कहाँ ? हा न गणपति यहाँ !
बोलो ब्रह्मविद्या का बचाने वाला कौन है ? ?

(७)

घेरेंगे घसीटेंगे घमंड भरे जैन बौद्ध,
पौराणिक पण्डित सनातनी सतावेंगे।
शंकर भिड़ेगी गाडनन्दन+ की भारी भीड़,
कोलाहल ग़ाज़ी इसलाम के मचावेंगे॥
ऐसे धर्मसंगर में हारकी सहेंगे मार,
वैदिक बनावटी न सूरमा कहावेंगे।
नास के नकीले जब जीत न सकेंगे तब,
हाय गणपति जी किसे न याद आवेंगे!!

(८)

मानो न अलीक भूमिकम्पही से कांपता है,
विद्युतादि वेगों से पहाड़ हिलता नहीं।
भानुका प्रकाश भव्य कारण विकाशका है;
तारोंकी चमक पाय पद्म खिलता नहीं॥
शंकर रबीली कड़ी रेती रेत डालती है,
क्षुद्र छुरी छेनियोंसे हीरा छिलता नहीं।
हाय गणपति की अनूठी वक्तृता के विना,
अन्य उपदेश सुने स्वाद मिलता नहीं॥

(९)

पैसों के पुजापे पाने वालों को न पूजते हैं,
पूज्य न हमारे लण्ठ लालची लुटेरे हैं।
विद्या के विरोधी बच्चकों को दान देते नहीं,

+ गाडनन्दन—ईश्वर का पुत्र—ईसामसीह

ठाली ठग मंगते मिटाय मान फेरे हैं॥
'शंकर' सुधारक उपाधिधारी लीडरों में,
आगमज्ञ, ग्रेजुएट, मुन्शी बहुतेरे हैं।
पांगा पंडितों की पण्डिताई के न चाकर हैं,
ज्ञानी गणपति की सी चातुरी के चेरे हैं॥

(१०)

शंकर मरण-शोक-शूल गणपतिजी का,
ज्ञानी गुणियों की छातियों में गढ़ जायगा।
नाचेंगे अचण्ड नीच ऊंच प्रतियोगी बिना,
ब्रह्मनाद कांटा किस का न कढ़ जायगा।
ऊलेगी उमंग मूढ़ता की मूढ़-मण्डल में,
पाप के पहाड़ पै प्रमाद चढ़ जायगा।
नाम के महानुभाव मायिक महासुरों की,
मोहमयी माया का महत्त्व बढ़ जायगा॥

(११)

खोती है दुरन्त जन्म माता गणपति जी की,
प्राण-पोत पुत्र-शोक-सिन्धु में डुबोती है।
बोती है विषाद मुक्ति मांगती है शंकर से,
काल विकराल की कुचाल को विगोती है॥
पोती है निराशा-मसि दैव के दुरानन पै,
देखो दुःखकांतरा विकल कैसी होती है।
धोती है कलंक शेष जीवन का आंसुओं से,
सोती है न नेक दिन रात पड़ी रोती है॥

(१२)

वैदिकसमाज में विषाद के लुटेरे लगे,
लूटे विज्ञ जौहरी अमोल रत्न खो चुके।
हो चुके हताश अवनति के गढ़े में गिरे,
हारे हाथ उन्नति की धारणा से धो चुके ॥
मृत्यु का मिलाप न अमंगल को मारता है,
कोस कोस काल की कुचाल को बिगो चुके।
रोते ही रहेंगे प्राणप्यारे गणपतिजी को,
अन्त लौं कहेंगे नहीं हाय हम रो चुके ॥

(१३)

खदता खलाने को बगारी रुद्र शङ्कर ने,
घोला विष कड़वा सुधारस मधुर में।
शोक परलोकवास प्यारे गणपति जी का,
आग उगलेगा नहीं कौन से सदुर में ॥
झोंके महाविद्या के सुअक्क काल कौतुकी ने,
दाहक वियोग-दुःख-पावक प्रचुर में।
आंखों से प्रपात[†] आंसुओं के पड़ते हैं तोभी,
ज्वाला न बुझेगी तो जलेंगे ज्वालापुर में॥

(१४)

धारो धीर डूबो न असीम शोकसागर में,
हिम्मत न हारो प्यारो प्रेम-रस पीजिये।
आरती न भूले महाविद्या मन भावते की,

† प्रक्त—प्रपात—झरने।

सब लोग फिर जम कर बैठ जाते, और घन्टों तक सुनते रहते। पण्डितजीके व्याख्यान के पश्चात् फिर किसी दूसरे वक्ता का रंग जमना ज़रा मुश्किल होता था।

शास्त्रार्थ करने का प्रकार भी इन का बड़ा विचित्र और प्रभावशाली था. भाषण में अपने प्रतिपक्षी के प्रति किसी प्रकार कटु प्रयोग या असद् व्यङ्ग्य न करते थे, किन्तु उस समय भी इन का व्यवहार बड़ा प्रेमपूर्ण और सद्भावभरित रहता था, इस सौजन्य के कारण भिन्नधर्मी प्रबल प्रतिपक्षी भी इनके मित्र बन जाते थे। गत वर्ष महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर रुड़की के सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेन्ड ज०बी०फ्रेंक साहब बि० ए० से पण्डितजी का शास्त्रार्थ हुआ, पादरी साहब अपना पक्ष समर्थन नहीं करसके; पर पण्डित जी के मधुर भाषण सद्व्यवहार और पाण्डित्य का पादरी साहब पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उनके गाढ़े मित्र बन गये, पण्डित जी की मृत्यु पर पादरी साहब ने एक अंग्रेजी पत्र में बड़ा ही शोक समवेदना और करुणा पूर्ण पत्र प्रकाशित कराया है. जिस के प्रत्येक शब्द से प्रेम और प्रतिष्ठा का भाव प्रकट हो रहा है।

शास्त्रार्थ में पंडितजी अपने प्रतिपक्षी को छल, जाति या निग्रहस्थान द्वारा निगृहीत करने की कभी चेष्टा न करते थे। परन्तु यदि कोई वैतण्डिक विवादी, धूर्ततासे अपना सिक्का बिठाना चाहता, तो फिर उस की ख़बर भी ऐसी लेते थे कि आयु भर याद करे।

जिन्हें रात दिन व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने का काम रहता है, ऐसे कई प्रसिद्ध उपदेशकोंको भी देखा गया है कि किसी प्रबल प्रतिपक्षी से सामना होने पर लम्बी लंबी नियमावलि निर्माण करके या पूरी नहोने वाली कोई पख लगाकर शास्त्रार्थ टालने की कोशिश किया करते हैं। परन्तु पंडितजी उलटा ऐसे शिकार की तलाश में रहते थे, जितने ही प्रबल प्रतिपक्षी का सामना हो, उतना ही उन का उत्साह और जोश बढ़ता था, स्मरणशक्ति तीव्र और प्रतिभा प्रदीप्त हो उठती थी, वास्तव में उन की गुणगरिमा अगाध वैदुष्य और प्रत्युत्पन्न-मतिता का परिचय ऐसे ही समय मिलता था जब कि किसी प्रबल प्रतिभट का मुक़ाबला हो।

एक बार यह काश्मीर (श्रीनगर) में गये हुए थे, दैवात् उन्हीं दिनों वहां काशी के सुप्रसिद्ध वावदूक और असाधारण संस्कृतभाषण-पटु पादरी "जानसन,, साहब भी जा पहंचे, पादरी साहब ने अपने स्वभावानुसार काश्मीर के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और "हिन्दूधर्म की निःसारता,, तथा "संस्कृतभाषा की अपूर्णता,, का अपना पराना राग आलापना शुरू कर दिया।

शास्त्रार्थ की नई प्रक्रिया से अनभिज्ञ काश्मीर के पराने फैशन के पंडित लोग, पादरी साहब को परास्त करने का साहस न कर सके, मजबूरी समझ कर चुप होरहे, इस पर पादरी साहब की और बन आई, और वह महाराजाधिराज काश्मीर (जो उन दिनों श्रीनगरमें ही विराजमान थे) के पास पहंचे कि" या तो अपने पंडितों से मेरा शास्त्रार्थ कराइए, नहीं मुझे विजयपत्र प्रदान कीजिये—,,

परन्तु जब महाराजा साहबकी प्रेरणासे भी पंडितमंडल शास्त्रार्थ करने को उद्यत न हुआ और प्रतिज्ञानुसार महाराजासाहब पादरी को विजयपत्र देने का वचन देचुके, और इस की ख़बर पंडित गणपति जी को मिली तो वह काश्मीर के प्रधान पंडितों से मिले और कहा कि "मुझे महाराजा साहब के पास ले चलिये, आप सब का प्रतिनिधि बन कर मैं पादरी से शास्त्रार्थ करूंगा,, जब पादरी साहब को इस का पता चला तो बहुत सट पटाये, क्योंकि वह पंडितजी को अच्छी तरह जानते थे, और कहने लगे कि "मेरा शास्त्रार्थ तो काश्मीर के पंडितों से ठहरा है, इन से नहीं,, पर पादरी साहब की यह चालाकी चल न सकी और उन्हें महाराजा साहब के सभापतित्व में, एक बड़ी भारी सभा के बीच पंडित जी से शास्त्रार्थ करना ही पड़ा, पादरी साहब को पंडित जी ने ऐसा छकाया कि अब तक याद करते हैं, शास्त्रार्थ करते समय साहब ऐसे घबराये कि संस्कृत भूलकर हिन्दी बोलने लगे, यह लीला देखकर सभापति और सभ्य जन अपने हास्य को रोक न सके! पादरी जी न अपना पक्ष समर्थन करसके न पंडितजी के प्रश्नों का ही कुछ समाधान कर सके! निदान "विजयपत्र,, की जगह विशुद्ध "पराजय,, पादरी साहब के पल्ले पड़ी और

भारत सपूतो ! उठो ऐसा काम कीजिये ॥
भूतल पै 'गणपति-भवन' बनादो भाई,
वैदिकी उदारता से नाम कर लीजिये ।
चांदी के चँदोकड़े सहस्रदश लागलो,
शङ्कर गुणज्ञ दानवीरो ! दान दीजिये ॥

(१५)

भारत का रत्न, भारती का बड़भागी भक्त,
शंकर प्रसिद्ध सिद्ध सागर सुमति का ।
मोहतम-हारी ज्ञान-पूषण, प्रतापशील,
दूषण-विहीन, शिरोभूषण विरति का ।
लोक-हितकारी, पुण्य-कानन-विहारी वीर,
धीर धर्म धारी, अधिकारी शुभगति का ।
देखलो विचित्र चित्र, बांचलो चरित्र मित्र
नाम लो पवित्र, स्वर्गगामी गणपति का ॥

नाथूराम शंकर शर्मा. (शंकर

श्रीपं० गणपतिशर्माजी--

दुःख का विषय है कि आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित गणपतिशर्मा का, गत २७ जून सन् १९१२ ई० को, ३९ वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवास होगया। प्रशंसित पण्डितजी दर्शनों के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। व्याकरण और साहित्य का भी आप को असाधारण ज्ञान था। बड़े निर्लोभ, स्पष्टवक्ता, सरलस्वभाव और दबङ्ग ब्राह्मण थे।

श्रीपण्डित जी, राजपूताना बीकानेरराज्यान्तर्गत "चूरू" नामक प्रसिद्ध नगर के निवासी थे। आप पाराशरगोत्रीय पारीक ब्राह्मण थे। पिता का शुभ नाम श्री पं० भानीराम वैद्य था, पण्डित भानीरामजी ईश्वरके सच्चे भक्त और पक्के आस्तिक ब्राह्मण थे, पिता का यह प्रधान गुण पण्डित गणपतिजी में भी मुख्यतया वर्तमान था। वह ईश्वरभक्त और आस्तिक परले दर्जे के थे, भगवद्भक्ति उन के व्याख्यानों का मुख्य विषय था, इस विषय पर बोलते हुए वह स्वयं भी गद्गद हो जाया करते थ और श्रोताओं को भी पुलकित और चित्रलिखित सा बना देते थे, नास्तिकतावाद को वह परिहास में भी सहन नहीं कर सकते थे, वेदों की अपौरुषेयता और ईश्वरसिद्धि पर भाषण करते हुए उन की वाणी में अलौकिक बल का संचार और प्रतिभा में अद्भुत विकास होने लगता था, इन विषयों का प्रतिपादन वह बड़े ही हृदयङ्गम प्रकारसे युक्ति प्रमाण द्वारा सफलतापूर्वक किया करते थे, अनेक वार कई प्रसिद्ध साइन्टिस्ट नास्तिकों के साथ इन का शास्त्रार्थ हुआ, और विजयी हुए।

व्याख्यानशक्ति उन में ग़ज़ब की थी, बड़े बड़े गहन विषयों पर १५-१५ सहस्र श्रोताओं की उपस्थिति में चार चार घन्टे तक, हृदयहारिणी ओजस्विनी भाषा में, धाराप्रवाह भाषण करना इन के लिये साधारण बात थी, व्याख्यान में फ़ेल होना वह जानतेही न थे, उत्सवों पर व्याख्यान के लिये इन्हें प्रायः ऐसा अवसर दिया जाता था कि जब सभा भङ्ग होने का समय हो, श्रोता बैठे बैठे और सुनते सुनते उकता चुके हों, और उठने की फिक्र में हों, परन्तु ज्योंही कि पण्डित जी उठने

आशा के विरुद्ध क्षणभर में "विजेता" के स्थान में "विजित" बनकर साहब बहादुरको काश्मीर से कूच करना पड़ा। सुना है, इस बने बनाये खेल के बिगड़ने का उन्हें अब तक अफ़सोस है, गुणज्ञ महाराजा साहब ने अपने यहां के नियमानुसार बड़े आदर सत्कारपूर्वक पंडितजी को विदा किया, और अनुरोध किया कि कभी फिर भी यहां पधारियें।

बहुत दिनों के बाद इस बार फिर पंडित जी काश्मीर जाने का विचार कर रहे थे, कि उस बड़े काश्मीर (स्वर्गलोक) की महायात्रा ने यह विचार बीच में ही दबा दिया।

पण्डित गणपतिशर्मा, आर्यसमाज के अनुयायी थे, इसलिये उन्हें कभी कभी सनातनी पण्डितों के साथ भी शास्त्रार्थ करना पड़ता था, इस प्रकार के कई शास्त्रार्थ, महाराजाधिराज झालरापाटन, धार और देवास आदि के सभापतित्व में समय समय पर हुए हैं।

पंडितजी में प्रतिभा और स्मरणशक्ति बड़ी विचित्र थी, पहले से बिना किसी विशेष प्रकार की तय्यारी किए या नोट लिए, निर्विष्ट गहन विषयों पर अव्याहतगति से वह घन्टों बोल सकते और शास्त्रार्थ कर सकते थे।

स्वभाव के वह बहुत सरल और निरभिमान थे, परन्तु मक्कार और दुरभिमानी जनों के (भारतेन्दु के शब्दों में) "नक़द दामाद" थे। चाहे कोई कितना ही बड़ा आदमी हो, वह यदि उन पर अपनी श्रीमत्ता या लीडरी का प्रभाव डाल कर दबाने की कोशिश करता तो वे तरह उस की ख़बर लेते थे। प्राचीन भावों के पोषक और अपने विचारों के बड़े दृढ़ थे, समय के प्रवाहमें तृणकी तरह बहनेवाले, प्राचीनता-विनिन्दक, नई रोशनीके बाबूसम्प्रदायसे उनकी अक्सर नहीं बनती थी। वह एक प्राचीन आदर्शके स्पष्टवक्ता ब्राह्मण थे। आजकल सभा सोसाइटियों में काम करने वालेलोगों को; प्रायः जिस विसर्प रोगने ग्रस रखा है, उस लीडरबनने की लालसा और शोहरतपसन्दी के रोग से वह रहित थे। अपने नाम की धूम मचाने और रुत्बा जमाने से उन्हें सुरुचि थी।

गुरु विरजानन्द दण्डी
सरस्वती पुस्तकालय
पुस्तक संग्रहण क्रमांक .. 1724
महिला महा

ग्रामोफ़ोन की तरह पेट में भरे हुए दो एक पेटेन्ट लेकचर सुनाने वाले, कई लेकचरर देखते२ थोड़े दिनों में ही हज़ारों के स्वामी और श्रीमान् धन बैठे, और वह वैसे के वैसे ही बनेरहे ! कष्ट उठाया, पर आमरण अपने अयाचितव्रत को न छोड़ा, परगुणासहिष्णु प्रभुतापिय लीडरम्मन्य दुर्जनों के निन्दावाद और मिथ्यापवाद का लक्ष्य बने,पर पाखण्डियों की हां में हां मिलाकर अपने कगरेपन को दाग़ नहीं लगाया, दुःख उठाया पर धनमदान्धों के आगे हाथ नहीं फैलाया !

पण्डितजी का चरित्र अपने उदात्त उदाहरण से भर्तृहरि की इस उक्ति की सत्यता का प्रमाण दे रहाहै कि:—

" अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः,
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ।"

खेद है कि एक ऐसा विद्वद्रत्न आर्यजाति से असमय में उठगया, जिस की जगह को पूरा करने वाला, मुश्किल से पैदा होगा।

पण्डितजी के कोई सन्तान नहीं, उनकी धर्मपत्नी और पुत्र का देहान्त कई वर्ष हुए, होगया था। वृद्धा माता और एक छोटा भाई,चूरमें हैं।

पण्डित जी ने कुछ दिनों से अपना प्रधान स्थितिस्थान[हेडक्वार्टर] ज्वालापुर महाविद्यालयको बना लिया था। महाविद्यालयकी उन्नति के लिये वह विशेषरूप से सचेष्ट और प्रयत्नशील थे।

महाविद्यालय सभा ने पण्डितजी की यादगार में दस हज़ार १००००) रुपये की लागत से एक "गणपति भवन,, बनाना निश्चित किया है, और उनकी वृद्धा माता तथा असहाय भाई की सहायता के लिये फन्ड खोला है। "गणपतिभवन" के लिये केवल दो मास में थोड़े से प्रयत्न से ३ सहस्र से अधिक धन एकत्र होगया है, आशा है शेषकी पूर्त्ति भी नियत समय तक हो जायगी। पण्डित जी के मित्र और भक्त महाशयों को पण्डित जी की कीर्तिरक्षा के इस पुण्य कार्य में सहायक होकर अपनी उदारता और कर्तव्यपालनता का परिचय देना चाहिए। पद्मसिंहशर्मा

" (हिन्दी चित्रमय जगत .. पत्रा)

—(:o:#:o#:o:)—

शास्त्रार्थ का शुद्धिपत्र ।

शुद्धिपत्रमें केवल शुद्ध शब्द दिखाये गये हैं—वहां वहां का पाठ इस शुद्धिपत्र के अनुसार शोध कर पढ़िये ।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	शुद्धपाठ
३	तिरसठी	चराचरस्य
४	२६	तितीर्षसि
५	१३	हृदय-पट पर
५	१४	शामियाने
६	१२	तत्सद् ब्रह्मणे
२०	२	पृथिव्यादि कार्य्यं द्रव्यं
"	१५ अन्त में	भोगमें
२१	५	विवक्षा के
२२	८	'साशनानशने'
"	२८	माने
२३	१६	श्वास
२५	१६	यह जड़ का
"	२८	मानते हैं,
२६	१	मतानुरूप
३०	३	पद्मिनी
३२	२५	षड्दर्शन
३६	१२	विशद
३७	१	छान्दोग्योपनिषत्
"	१	छपी
३८	१०	षष्ठाध्याय···
३९	२०, २१	यथा का.....
४१	१८	भोगने वाले
"	२४	यह
५०	१६	प्रमाण
५२	१५	जाग्रत
५३	५	श्वास
५४	२	कर्मों

पृष्ठसंख्या	पंक्ति संख्या	शुद्धपाठ
५४	४	निद्रा
"	५	निद्रा
"	६	निद्रा
५५	१६	श्लिष्ट रूपकता
५६	२०	पराङ्मुखै
५६	२४	नवोरूपा
"	"	प्रविश्य
"	"	छायातपवत्
"	"	विरुद्धौ
"	२५	कर्मेणश्च
५६	२५	अग्निश्चितो
५७	६	प्राणा
"	७	प्राणिनि
"	१२	हैं
"	१६	हैं
"	१८	स्वामी जी
"	२०	मतों
५८	३	प्रासाद
५८	१८	आदि की
५९	११	करते
६०	१८	विषयक
६३	४	अकिञ्चित्कर
६४	१	हो
६४	१	हे

नोट—शुद्धिपत्र में पृष्ठ संख्या भारतोदय के अनुसार है 'शास्त्रार्थ' अंक तब की पृष्ठ संख्या में २ पेज का अन्तर है यथा 'शुद्धिपत्र, में पृ० २२ पं० २ शब्द शास्त्रार्थ के पृ० २० में है, आगे ५१ पेज से पृ० सं० ठीक है ।